नेहरू बाल पुस्तकालय

रस्टी के कारनामे

रस्किन बांड

अनुवाद

द्रोणवीर कोहली

चित्र

शुद्धसत्व बसु

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

विषय-सूची

केन काका

स्कूल से भागना

केन काका

दादी की अद्‌भुत रसोई

दादी का रसोईघर उतना बड़ा तो नहीं था जितने बड़े आम रसोईघर होते हैं। सोने के कमरे जितना बड़ा या बैठक जितना लंबा-चौड़ा भी नहीं था, लेकिन खासा बड़ा था, और उसके साथ लगा हुआ रसोई-भंडारगृह भी था। दादी का रसोईघर इस दृष्टि से अद्‌भुत था कि उसमें ढेर सारी चीजें बनती थीं। खाने-पीने के बढ़िया और स्वादिष्ट व्यंजन, जैसे कबाब, सालन, चाकलेट वाली मिठाई और चीनिया बादाम वाली टॉफी, मीठी चटनियां और अचार-मुरब्बे, गुलाब जामुन, गोश्त की कचौरी और समोसे, सेब के समोसे, मसालेदार 'टर्की', मसालेदार मुर्गी, भरवां बैंगन और मसालेदार मुर्गीवाला भरवां हैम।

भोजन बनाने में दुनिया में दादी का कोई मुकाबला नहीं था।

जिस शहर में हम रहते थे, उसका नाम देहरादून था। यह आज भी है। मगर आजादी के बाद यह शहर बहुत फैल गया है और यहां की हलचल और भीड़-भाड़ भी बढ़ गयी है। दादी का अपना घर था—विशाल मगर बेतरतीब तरीके से बना बंगला, जो शहर की सीमा-रेखा पर था। बंगले के अहाते में बहुत सारे पेड़ थे। इनमें अधिकतर पेड़ फलों के थे, जैसे आम के पेड़, लीची के पेड़, अमरूद के पेड़, केले के पेड़, पपीते के पेड़, नींबू के पेड़, आदि। इतने सारे पेड़ थे उस बंगले के अहाते में ! इनमें एक कटहल का विशाल पेड़ भी था, जिसकी छाया घर की दीवारों पर पड़ती थी।

'धन्य है वह घर, जिसकी दीवारों पर
पड़ती है बूढ़े पेड़ की ठंडी-नरम छांव...'

दादी के ये शब्द आज भी अच्छी तरह याद हैं मुझे। कितनी सच्ची और खरी बात कहती थीं दादी, क्योंकि वह घर बड़ा सुखकर था, खासकर नौ बरस के उस बालक के लिए, जिसकी भूख बहुत तेज थी।

अगर भोजन बनाने के मामले में दादी का कोई सानी नहीं था, तो मुझ जैसा भोजनभट्ट यानी पेटू भी कोई न था। मैं इस नाते भाग्यशाली था कि हर बच्चे की ऐसी दादी नहीं होती जो किसी फरिश्ते की तरह पाक-विद्या में निपुण हो, बशर्ते कि फरिश्ते भी रसोई वगैरह बनाते हों)।

हर साल जाड़ों में जब मैं बोर्डिंग स्कूल से घर लौटता, तो असम में अपने माता-पिता के साथ छुट्टियां बिताने से पहले कम से कम एक महीने के लिए मैं अपनी दादी के पास चला आता था। असम में मेरे पिता एक चाय-बागान के मैनेजर थे। बेशक चाय-बागान में भी मौज-मस्ती रहती थी, लेकिन मेरे माता-पिता ने कभी अपने हाथों से रसोई नहीं बनाई थी। उन्होंने इस काम के लिए एक खानसामा रखा हुआ था, जो मटन-करी तो अच्छी बनाता था, मगर इसके अलावा और कुछ बनाना उसे नहीं आता था। रात को भी भोजन में वही गोश्त मिले तो रोटी गले से नीचे नहीं उतरती—खासकर उस लड़के को बार-बार वही गोश्त कैसे अच्छा लग सकता था जिसकी जीभ को भांति-भांति के व्यंजनों का चस्का लग चुका हो।

इसलिए आधी छुट्टियां बिताने के लिए मैं हमेशा दादी के घर जाने को उत्सुक रहता था।

दादी भी मुझे देखते ही खिल उठती थीं, क्योंकि ज्यादा वक्त वह अकेली रहती थीं। भले ही एकदम अकेली नहीं होती थीं...उनका एक माली था, जिसका नाम कांत था। वह 'आउट हाउस' यानी नौकरों-चाकरों के लिए बने क्वार्टर में रहता था। माली का एक बेटा था, जिसका नाम मोहन था। मोहन मेरी ही उम्र का था। फिर, सूजी नामक एक बिल्ली भी थी—मोतिया रंग, छोटे-छोटे बालों और भूरे मुंह वाली नाटी-सी बिल्ली, जिसकी आंखें नीली और चमकीली थीं। और फिर, संकर जाति का एक कुत्ता भी था, जिसे सब 'क्रेज़ी' कहकर पुकारते थे। उसका यह नाम इसलिए रखा गया था, क्योंकि वह घर के चारों ओर चक्कर लगाता रहता था।

इनके अलावा वहां एक केन काका भी थे—दादी के भतीजे। जब कभी केन काका की नौकरी छूट जाती (और ऐसा अक्सर होता रहता था) या जब भी मेरी दादी के हाथों के बने पकवान उड़ाने को उनकी तबीयत मचलती, वह झट उन के यहां आ धमकते थे।

इस तरह, सच्चाई यह थी कि दादी कभी अकेली नहीं रहीं। फिर भी, वह मुझे देखते ही खिल उठती थीं। हमेशा कहतीं, "सिर्फ अपने लिए खाना पकाने में मेरा जी नहीं लगता। कोई तो हो, जिसके लिए पकाऊं।" हालांकि दादी की

बिल्ली, दादी का कुत्ता, यहां तक कि केन काका भी अक्सर दादी के पकवानों का रस लेते थे, मगर अच्छे रसोइए की हमेशा यह इच्छा होती है कि वह किसी लड़के को पास बैठा कर खिलाये-पिलाये, क्योंकि लड़के बड़े जीवट वाले होते हैं और नये से नये पकवानों को भी चखने और आजमाने को तैयार रहते हैं।

दादी जब कोई नयी चीज बनाकर मेरे लिए परोसतीं, तो मेरी राय और प्रतिक्रिया जानने को भी उत्सुक रहतीं और फिर मैं जो कुछ कहता उसे एक कापी में नोट कर लेतीं। मेरी ये बातें तब बड़ी उपयोगी साबित होतीं जब दादी वही चीज किसी दूसरे को परोसतीं।

"अच्छी लगी ?" मैं कुछ कौर खा चुकता, तो दादी पूछतीं।

"हां, दादी !"

"मीठी है न ?"

"हां, दादी !"

"बहुत मीठी तो नहीं, न ?"

"नहीं, दादी !"

"और लोगे ?"

"हां, लूंगा दादी !"

"ठीक है, पहले यह खा लो !"

"हम्म्...''

तंदूरी बतख !

तंदूरी बतख बनाने में दादी को महारत हासिल थी।

पहली बार जब मैंने दादी के यहां तंदूरी बतख खायी तो केन काका भी वहां जमे हुए थे।

रेलवे में गार्ड की उनकी नौकरी उन्हीं दिनों छूटी थी और अगली नौकरी की तलाश में उन्होंने दादी के यहां डेरा डाल रखा था। केन काका वहां जितने दिन टिक सकते, टिके रहते और तब तक नहीं टलते जब तक कि दादी पादरी दास के बच्चों के स्कूल में उन्हें असिस्टेंट मास्टर की नौकरी दिलवाने को नहीं कहतीं।

छोटे बच्चे केन काका को फूटी आंख नहीं सुहाते थे। वह अक्सर कहते कि ये लड़के मुझे परेशान करते रहते हैं। परेशानी तो उन्हें मुझसे भी होती थी, लेकिन एक तो मैं अकेला था, दूसरे दादी हरदम केन काका की रक्षा को प्रस्तुत

रहती थीं। पादरी दास के स्कूल में तो सौ से ऊपर बच्चे थे !

वैसे तो केन काका भी पूरे भोजनभट्ट थे और मेरी तरह ही स्वादिष्ट चीजें गपागप खाते थे, किंतु दादी के हाथों की बनी रसोई की तारीफ कभी नहीं करते थे। मुझे लगता है, शायद इसी वजह से कभी-कभी मैं केन काका से नाराज हो जाता था और इसीलिए बीच-बीच में उन्हें परेशान करके खुश भी होता था।

केन काका ने तंदूरी बतख की तरफ नजर डाली, तो उनकी ऐनक खिसकती हुई नाक की कोर पर आ टिकी।

"हुम्म...वही बतख, मे आंटी ?"

"क्या मतलब, 'वही बतख' ?" दादी कहतीं, "पिछले महीने तू आया था, तब से तो तूने बतख नहीं खायी !"

"मेरा कहने का मतलब था, मे आंटी, "केन काका कहते, "कि आपसे तो किस्म-किस्म की चीजों की उम्मीद रहती है, न !"

इसके बावजूद, केन काका ने दो बार अपनी प्लेट भर कर खायी और जब तक मैं हाथ बढ़ाता, वह अधिकांश बतख डकार गये थे। मुझे और कुछ नहीं सूझा, तो मैंने सारी की सारी सेब की सॉस अपनी प्लेट में उड़ेल ली। केन *काका जानते थे कि मुझे तंदूरी बतख* बहुत अच्छी लगती है, और मैं भी जानता था कि केन काका दादी की बनायी सेब की सॉस के दीवाने हैं। बस, पलड़ा बराबर हो गया।

"अपने माता-पिता के पास कब जा रहा है तू ?" मुरब्बे पर हाथ साफ करते हुए केन काका ने आशाभरी दृष्टि से मेरी ओर देखा।

"शायद इस साल मैं उनके पास न जाऊं।" मैंने कहा और साथ ही जोड़ दिया, "और काका ! आपको दूसरी नौकरी कब मिल रही है ?"

"ओह, सोचता हूं, अभी एक-दो महीने आराम करूं।"...

बर्तन वगैरह धोने-पोंछने में मैं दादी और आया की खुशी-खुशी मदद करता था। जब हम इस काम में व्यस्त होते, तो केन काका बरामदे में लेटे झपकी लेते या रेडियो पर नृत्य-संगीत सुनते रहते।

"केन काका तुझे कैसे लगते हैं ?" एक दिन दादी ने केन काका की प्लेट की हड्डियां कुत्ते के कटोरे में डालते हुए मुझसे पूछा।

"काश ! वह किसी और के अंकल होते," मैंने कहा।

"हट ! इतने बुरे तो नहीं हैं। हां, थोड़े खब्ती जरूर हैं।"

"खब्ती क्या होता है, दादी ?"

"यानी थोड़े झक्की किस्म के—क्रेज़ी !"

"लेकिन हमारा क्रेज़ी कम से कम घर के गिर्द दौड़ता-भागता तो है," मैंने कहा, "लेकिन केन काका को दौड़ते हुए मैंने कभी नहीं देखा।"

लेकिन एक दिन मैंने यह दृश्य भी देखा।

मोहन और मैं, दोनों आम के पेड़ के नीचे कंचे खेल रहे थे। तभी चकित होकर क्या देखते हैं कि केन काका अहाते में दौड़े चले आ रहे हैं और शहद की मक्खियों का झुंड उनके पीछे पड़ा है। हुआ यह था कि केन काका सेमल के पेड़ के नीचे खड़े सिगरेट पी रहे थे। उनके एकदम ऊपर मधुमक्खियों का छत्ता था। सिगरेट के धुएं के गुबार से मक्खियां भड़कीं और केन काका पर टूट पड़ीं। बस, केन काका सिर पर पैर रखकर भागे और भीतर जाकर एकदम ठंडे पानी के टब में कूद पड़े। मधुमक्खियों ने कई जगह उन्हें डंक मारे थे। अतः तीन दिन तक केन काका ने बिस्तर में पड़े रहने का फैसला किया। आया उनके लिए ट्रे में भोजन रख कर दे जाती।

"मुझे नहीं मालूम था, केन काका इतना तेज दौड़ सकते हैं," उस दिन बाद में मैंने यह बात कही।

दादी बोलीं, "प्रकृति इस तरह क्षतिपूर्ति करती है।"

"यह क्षतिपूर्ति क्या होता है, दादी ?"

"क्षतिपूर्ति यानी किसी चीज की कमी पूरी करना या कसर निकालना ...अब कम से कम केन काका को यह तो पता चल ही गया है कि वह भाग सकते हैं। क्यों, है न अद्भुत बात !"

दादी के अचार

दादी जब कभी वनीला या चाकलेट वाली मिठाई बनातीं, मुझसे कहतीं कि थोड़ी माली के बेटे मोहन को भी दे आओ।

मोहन के लिए तंदूरी बतख या चिकन-करी ले जाने की कोई तुक नहीं थी, क्योंकि माली के घर में कोई मांस-मछली नहीं खाता था। मगर मोहन को मिठाई अच्छी लगती थी—खासकर गुलाब जामुन, रसगुल्ले, जलेबी, जिनमें खूब दूध और चीनी रहती थी, और फिर दादी के हाथ से बनी अंग्रेजी मिठाई तो वह बड़े चाव से खाता था।

अकसर हम कटहल के पेड़ की शाखाओं पर जा बैठते और मिठाई या पिपरमिंट या लसलसी-चिपचिपी टॉफी के चटखारे लेते रहते। कटहल हम खा नहीं सकते थे। हां, उसकी तरकारी या सब्जी बनती या अचार डलता, तो हम शौक से खाते थे। मगर कटहल के पेड़ पर चढ़ने में बड़ा मजा आता था। कुछ बड़े अद्भुत जीव भी उस पेड़ पर रहते थे—गिलहरियां, फल खाने वाले चमगादड़ और हरे सुग्गों का जोड़ा। गिलहरियां हमसे हिल-मिल गयी थीं और जल्दी ही हमारे हाथों से चीजें लेकर खाने लगी थीं। उन्हें भी दादी की चाकलेट वाली मिठाई बहुत भाती थी। एक नन्ही गिलहरी तो मेरी जेबों में घुसकर यह खोजबीन करती कि कहीं मैंने कोई चीज छिपा कर तो नहीं रख छोड़ी।

मोहन और मैं, दोनों बगीचे के लगभग हर पेड़ पर चढ़ जाते थे, और यदि दादी हमें ढूंढ़ने निकलतीं, तो पहले आगे वाले बरामदे में से और फिर घर के बगल वाले रसोई-भंडार से और अंत में घर की दूसरी तरफ वाले गुसलखाने की खिड़की से हमें पुकारतीं। वहां चारों तरफ पेड़ ही पेड़ थे और जब हम दादी को कोई जवाब न देते, तो यह पता लगाना मुश्किल हो जाता कि हम किस पेड़ पर बैठे हैं। कभी-कभी होता यह कि जिस पेड़ पर हम बैठे होते, 'क्रेज़ी'

उसके नीचे आकर भौंकने लगता और हमारा भेद खुल जाता।

जब पेड़ों से फल बटोरने का मौसम आता, तो यह काम मोहन को सौंपा जाता। आम और लीची गर्मियों में पक कर तैयार होते थे। उन दिनों मैं बोर्डिंग स्कूल में होता। सो, मैं फल बटोरने के काम में हाथ नहीं बंटा सकता था। पपीता जाड़ों में पकता था। मगर पपीते के पेड़ पर चढ़ा नहीं जा सकता, क्योंकि उसका तना पतला और लचकीला होता है। पपीते के पेड़ से फल तोड़ने के लिए लंबी लग्गी से फल गिराते हैं और धरती पर गिरने से पहले ही उसे लपक लेते हैं।

मोहन अचार वगैरह डालने में भी दादी की मदद करता था। दादी के अचारों की बड़ी धूम थी। तेल में तैयार किया गया आम का अचार देखकर तो हर किसी की लार टपकने लगती थी। नींबू का तीखा अचार भी लोग बहुत पसंद करते थे। इसी तरह, शलजम, गाजर, फूलगोभी, मिर्ची और दूसरे फलों और सब्जियों के अचार डालने में भी दादी उतनी ही निपुण थीं। जलकुंभी से लेकर कटहल तक—मतलब यह कि किसी भी चीज के अचार डालने की कला में दादी माहिर थीं। केन काका को अचार अच्छा नहीं लगता था, इसलिए मैं दादी से हमेशा ढेर सारा अचार डालने का आग्रह करता था।

मीठी चटनी और सॉस वगैरह मुझे ज्यादा पसंद थे, मगर मैं अचार भी शौक से खाता था, यहां तक कि मिर्च-मसाले वाले तीखे अचार भी मुझे अच्छे लगते थे।

एक बार जाड़े के मौसम में, जब दादी के पास पैसों की थोड़ी कमी हुई, तो मैंने और मोहन ने घर-घर जाकर उनके अचार बेचे।

हालांकि दादी हर किस्म के लोगों और पालतू जीव-जंतुओं को खिलाती-पिलाती थीं, मगर वह कोई धनी स्त्री नहीं थीं। मकान तो दादा जी उनके लिए जरूर छोड़ गये थे, मगर बैंक में रुपया ज्यादा नहीं था। आम की फसल से हर साल उन्हें खासी आमदनी हो जाती थी और रेलवे से थोड़ी पेंशन भी मिलती थी (दादाजी इस सदी के शुरू में पहले-पहल देहरादून तक रेलवे लाइन लाने में मदद करने वाले अग्रणी लोगों में थे)। मगर इसके अलावा दादी की आमदनी का और कोई साधन नहीं था। अब जब मैं कभी इस बारे में सोचता हूं, तो देखता हूं कि उन दिनों का भोजन निराला क्यों लगता था—बस, एक-आध चीज रहती थी उसमें, और उसके साथ कोई मिष्ठान्न होता था। यह दादी की पाककला का ही कमाल था कि साधारण-सा भोजन भी दावत का मजा देता था।

दादी के अचार ले जाकर बेचने में मुझे कोई संकोच नहीं था। बल्कि इसमें तो मजा ही था। मोहन और मैं अचार की बोतलें-शीशियां टोकरियों में भर कर घर से निकले और घर-घर जाकर उन्हें बेचा।

सड़क के उस पार रहने वाले मेजर क्लार्क हमारे पहले ग्राहक थे। मेजर क्लार्क के बाल लाल-लाल से थे और आंखें चमकीली नीली, और वह हमेशा प्रसन्नचित्त दिखाई देते थे।

''उसमें क्या है, रस्टी ?'' उन्होंने पूछा।

''जी, अचार !''

''अचार ! तुम खुद डालते हो ?''

''जी, नहीं। मेरी दादी डालती हैं। हम बेचने आये हैं। इन्हें बेचकर हम बड़े दिन (क्रिस्मस) के लिए 'टर्की' खरीदेंगे।''

''मिसिज बांड के अचार, अहा ! अच्छा है, पहले मेरा ही घर पड़ता है, क्योंकि मैं जानता हूं तुम्हारी टोकरी आनन-फानन में खाली हो जायेगी। बेटे, तुम्हारी दादी से अच्छा अचार कोई नहीं डाल सकता। यह बात मैं पहले भी कहता था, और आज फिर कहता हूं। इस दुनिया में, जहां बढ़िया और लजीज भोजन बनाने वालों की वैसे ही बेहद कमी है, तुम्हारी दादी तो समझो ऊपरवाले का वरदान है। मेरी पत्नी बाजार गयी है, इसलिए थोड़ा तसल्ली से बातचीत कर सकता हूं, समझे... ! क्या-क्या है इस वक्त तुम्हारे पास ? जरूर ही मिर्ची का अचार भी होगा ! तुम्हारी दादी जानती हैं, मिर्ची का अचार मुझे अच्छा लगता है। तुम्हारी टोकरी में अगर मिर्ची का अचार न हुआ, तो मुझे बहुत खराब लगेगा।''

वास्तव में, टोकरी में लाल मिर्ची के अचार की तीन शीशियां थीं। मेजर क्लार्क ने तीनों की तीनों खरीद लीं।

वहां से चल कर हम मिस केलनर के घर गये। मिस केलनर मिर्च-मसाले वाली चीजें कतई पसंद नहीं करती थी। इसलिए उसके हाथ अचार बेचने की बात करना ही व्यर्थ था। मगर मिस केलनर ने एक शीशी सिरकेवाला अदरक खरीद लिया। फिर उसने मुझे एक छोटी-सी प्रार्थना-पुस्तक दी। जब कभी मैं मिस केलनर से मिलने जाता था, वह मुझे प्रार्थना-पुस्तक अवश्य देती थी और यह पुस्तक हमेशा वही होती थी।

आगे सड़क पर डाक्टर दत्त रहते थे, जो अस्पताल के इंचार्ज थे। उन्होंने नींबू के अचार की कई शीशियां खरीदीं। बोले कि नींबू का अचार उनके जिगर के लिए बड़ा फायदेमंद है। सड़क के सिरे पर मोटर-गेराज के मालिक मिस्टर हरि रहते थे, जो नयी कारें बेचते थे। उन्होंने सिरके वाले प्याज की दो शीशियां खरीदीं और विनयपूर्वक कहा कि अगले महीने हम उन्हें दो शीशियां और दे जायें।

वापस घर पहुंचते-पहुंचते हमारी टोकरी अकसर खाली हो चुकी होती और दादी की हथेली पर हम जाकर बीस-तीस रुपए रख देते। उन दिनों इतने रुपयों

में 'टर्की' आ जाती थी।

केन काका क्रिसमस तक वहां डटे रहे और ज्यादातर 'टर्की' उन्हीं के पेट में गयी।

"अब तो नौकरी ढूंढ़ ले तू !" दादी ने एक दिन केन काका से कहा।

"देहरादून में नौकरियां कहां रखी हैं !" केन काका झींकते हुए बोले।

"क्या कहता है ? तूने कभी कोई नौकरी ढूंढ़ी ही नहीं ! तू क्या हमेशा यहीं पड़ा रहेगा ? तेरी बहन एमिली लखनऊ में स्कूल की हेडमिस्ट्रेस है। उसके पास चला जा। उसने पहले भी कहा था कि वह तुझे अपनी 'डॉरमिटरी' (स्कूल में बच्चों के सोने का बड़ा हाल) का कामकाज देखने की नौकरी दे सकती है।"

"छिः छिः !" केन काका बोले, "ईमानदारी की बात तो यह है आंटी कि तुम खुद भी नहीं चाहोगी कि मैं डॉरमिटरी जैसी जगह पर चालीस-पचास बावले बच्चों के साथ सिर-खपाई करूं।"

"बावले क्या होता है ?" मैंने पूछा।

"चुप रह !" केन काका बोल पड़े।

दादी बोलीं, "बावले का अर्थ है सनकी।"

"इतने सारे शब्दों का अर्थ 'सनकी' होता है !" मैंने शिकायत भरे स्वर में कहा, "इससे अच्छा सीधे हम 'सनकी' ही क्यों नहीं कह देते। हमारे पास एक 'सनकी' क्रेज़ी है, और केन काका भी सनकी हैं।"

केन काका ने मेरा कान उमेठा। दादी बोलीं, "तेरे केन काका सनकी नहीं हैं। खबरदार, जो कभी ऐसी बात मुंह से निकाली ! हां, थोड़े आलसी जरूर हैं।"

"और खब्ती भी !" मैंने कहा, "सुनते हैं, वे खब्ती भी हैं।"

"कौन कहता है, मैं खब्ती हूं !" केन काका क्रोधित होकर बोले।

"मिस लेस्ली कहती है !" मैंने झूठमूठ उसका नाम ले दिया। मैं जानता था कि केन काका मिस लेस्ली पर मुग्ध हैं, जो देहरादून के फैशनेबल बाजार में ब्यूटी पार्लर चलाती थी।

"तेरी बात पर विश्वास नहीं होता !" केन काका बोले, "फिर भी, कब मिली मिस लेस्ली तुझसे ?"

"पिछले हफ्ते हमने उसे पुदीने की चटनी की शीशी बेची थी। मैंने मिस लेस्ली से कहा कि केन काका को पुदीने की चटनी अच्छी लगती है। पर वह कहने लगी—यह चटनी तो मैंने मिस्टर हाउफ्टन के लिए खरीदी है, जो मुझे कल सिनेमा दिखाने ले जा रहे हैं।"

निठल्ले केन काका

हैरानी की बात तो यह थी कि केन काका को देहरादून के आसपास के दर्शनीय स्थल दिखाने की पार्टटाइम नौकरी मिल गयी।

वहां के दर्शनीय स्थलों में नदी के निकट ही एक प्राचीन किला था, सोलहवीं सदी का एक हिंदू मंदिर था, और फिर दस मील के फासले पर पहाड़ी की तलहटी में गंधक वाले पानी के चश्मे थे।

केन काका ने हमें बताया कि वह तीन अमेरिकी दंपति यानी छह पर्यटकों के दल को गंधक वाले पानी के चश्मे दिखाने ले जा रहे हैं। दादी खुश हो गयीं। आखिर, केन काका किसी काम-धंधे से तो लगे ! दादी ने उन्हें हैम सैंडविच, घर के बने बिस्कुट और दर्जन-भर संतरों से भरी एक डलिया दी। यह सारा सामान एक दिन के सफर के लिए काफी था।

गंधक वाले पानी के चश्मे देहरादून से कुल दस मील के फासले पर थे, मगर तीन दिन तक केन काका के दर्शन नहीं हुए।

जब लौटे, तो उनकी हालत देखते ही बनती थी। धूल सने कपड़े एकदम तार-तार हो गये थे। गाल भीतर को धंस गये थे। सिर की चांद तेज धूप सहने के कारण लाल सुर्ख हो गयी थी।

"यह तूने क्या हाल बना रखा है ?" दादी ने पूछा।

केन काका बरामदे में रखी आरामकुर्सी में धंस गये, "भूख से जान निकली जा रही है, आंटी, कुछ खाने को दो।"

"जो सामान ले गया था, उसका क्या हुआ ?"

"हम सात जने थे, पहले ही दिन सब खत्म हो गया।"

"खैर, एक दिन के लिए ही तो था। तू तो कह रहा था, गंधक के चश्मे दिखाने जा रहा हूं !"

"हां, वहीं तो जा रहे थे !" केन काका बोले, "मगर वहां पहुंचे ही नहीं। पहाड़ियों में ही भटक गये।"

"पहाड़ियों में कैसे भटक गये ? सीधे, नदी के साथ-साथ घाटी में जाना था...तू जानता है, तू गाइड था और वहां पहले भी जा चुका है ?"

"जानता हूं !" केन काका खिसियाकर बोले, "मगर रास्ता ही भूल गया ...यानी घाटी ही भूल गया। मेरा मतलब है, मैं उन्हें गलत घाटी में ले गया। मैं यही सोचता रहा कि नदी के अगले मोड़ पर चश्मे होंगे, पर यह वह नदी थी ही नहीं...सो, हम चलते गये, चलते चले गये और चलते-चलते पहाड़ियों में जा निकले। और तब मैंने नीचे देखा और पाया कि हम तो गलत घाटी में आ निकले हैं। तारों की छांव में रात बितायी सबने। बहुत सर्दी थी। अगले दिन मैंने सोचा कि मसूरी के छोटे रास्ते से जल्दी पहुंच जायेंगे, लेकिन हमने फिर गलत रास्ता पकड़ लिया और केंप्टी जा निकले...वहां से पैदल चल कर हम मोटर वाली सड़क पर आये और वहां से बस पकड़ी।"

केन काका को बिस्तर पर लिटाने में मैंने दादी की मदद की। फिर केन काका के लिए हमने प्याज का सूप बनाया, ताकि पीकर उनके बदन को ताकत मिले। मैं ट्रे में शोरबा रख कर उनके पास गया। पहले तो उन्होंने मुंह बनाया, फिर और फरमाइश की।

दो दिन तक केन काका बिस्तर में पसरे रहे। आया और मैं बारी-बारी से उनके लिए भोजन लेकर जाते। मगर उन्होंने इस सबका रत्ती-भर एहसान नहीं माना। सोचता हूं कुछ काका होते ही ऐसे हैं...कभी सयाने नहीं होते।

"खूब छक कर खा, मगर ठूंस-ठूंस कर मत खा !" यह बात दादी अकसर मुझसे कहतीं, "अच्छा भोजन ईश्वर का वरदान है, और दूसरे किसी भी वरदान की तरह इसका भी गलत उपयोग हो सकता है।"

दादी ने रसोई के बारे में कुछ सूक्तियां अथवा कहावतों की एक सूची बना रखी थी, जिसे उन्होंने रसोई-भंडार के द्वार पर पिन से टांग दिया था। यह सूची इतनी ऊंचाई पर नहीं थीं कि मैं उसे पढ़ न सकूं और इतनी नीचे भी नहीं कि केन काका की उस पर नजर न पड़े।

कुछ सूक्तियां इस प्रकार थीं :

हल्का खाना खाने से उम्र बढ़ती है।

खाली प्लेट की बजाय एक निवाला परोसना अच्छा होता है।

हर काम में कौशल की अपेक्षा होती है—दलिया पकाने तक में।

खाने-पीने में मनुष्य को इस तरह नहीं डूब जाना चाहिए कि वह सोचना बंद कर दे।

बाहर के मुर्ग-मुसल्लम से, घर की रूखी-सूखी दाल-रोटी अच्छी होती है।

अच्छे भोजन से बुद्धि कुशाग्र होती है और हृदय उदार बनता है।

ध्यान रखो कि तुम्हारी चटोरी जीभ कहीं तुम्हारा गला न रेत डाले !

एक दिन केन काका जब इस बात पर झींक रहे थे कि उनके बाल झड़ते जा रहे हैं और चांद भी बढ़ती जा रही है, तो दादी ने अपने पुराने नुस्खों की किताब में देखकर बताया कि गंजेपन की एक दवा है, जिसका सफल प्रयोग उनके दादाजी किया करते थे। यह एक प्रकार का लोशन था जो ब्रांडी में खीरा सोखकर तैयार किया जाता था। केन काका बोले, "मैं इसका प्रयोग करके देखूंगा।"

दादी ने एक हफ्ते तक ब्रांडी में खीरा भिगो कर रखा। फिर बोतल केन काका को पकड़ायी और निर्देश दिया कि सुबह-शाम यह लोशन अपनी चांद पर लगाओ।

अगले दिन जब दादी उनके कमरे में गयीं, तो क्या देखती हैं कि बोतल में सिर्फ खीरे पड़े हैं। केन काका ने सारी ब्रांडी पी डाली थी।

केन काका को मुंह से सीटी बजाना अच्छा लगता था।

निठल्ले तो थे ही। जेबों में हाथ डाले वह घर के बाहर-भीतर, बगीचे में और सड़क पर इस सिरे से उस सिरे तक मटरगश्ती करते हुए धीमे-धीमे सीटी बजाते रहते थे।

फिर, हमेशा एक जैसी ही सीटी बजाते थे केन काका। स्वयं काका को छोड़, सभी को उनकी सीटी बेसुरी लगती थी।

मैं उनसे पूछता, "केन काका, आज आप क्या सीटी बजा रहे हैं ?"

" 'ओल् मैन रिवर' धुन।" उन्होंने एक अंग्रेजी गीत की पहली पंक्ति सुनाते हुए कहा, "पहचान नहीं पाया तू ?"

अगली बार भी जब वह वैसी ही सीटी बजा रहे थे, तो मैंने फिर पूछा, "काका आज भी आप 'ओल् मैन रिवर' की धुन बजा रहे हैं ?"

"नहीं। यह 'डैनी बाय' धुन है।" उन्होंने एक और गीत के शीर्षक का नाम लिया। "फर्क समझ नहीं पाया तू ?"

यह कह बेसुरी सीटी बजाते हुए फूहड़ चाल से वह आगे बढ़ गये।

कभी-कभी केन काका की सीटी दादी को नाराज कर देती।

"केन ! सीटी बजाना बंद नहीं कर सकता तू ? तेरी सीटी ने मेरी नाक में दम कर रखा है। सीटी बजाने के बजाय तू गाना क्यों नहीं गाता ?"

"मुझे गाना नहीं आता। वैसे भी यह 'ब्लू डैनूबी' की धुन है। इस धुन के कोई बोल नहीं हैं।" और सीटी बजाते हुए वह किचन में ही थिरक-थिरक कर चलने लगे।

दादी ने कहा, "जा, बाहर बरामदे में जाकर सीटी बजा, और नाच। यहां किचन में यह सब नहीं चलने दूंगी। सारा खाना खराब हो जाता है।"

जब दांत के डाक्टर ने केन काका का एक दुखता दांत निकाल दिया, तो हमने समझा कि अब तो वह सीटी बजाना छोड़ देंगे। मगर केन काका और भी ऊंची और तीखी सीटी बजाने लगे।

एक दिन वह जेबों में हाथ डाले खाली-खाली सड़क पर जोर से सीटी बजाते हुए जा रहे थे। तभी उधर से एक लड़की साइकिल पर आयी। एकाएक वह रुकी, साइकिल से उतरी और केन काका का रास्ता रोककर खड़ी हो गयी। फिर केन काका का पूरा नाम लेकर बोली, "केनेथ बांड, मैं जब भी इधर से गुजरती हूं, तुम सीटी बजाते हो। अब अगर तुमने फिर कभी सीटी बजायी, तो अपने भाई से कह कर तुम्हारी मरम्मत करवा दूंगी।"

केन काका का चेहरा तमतमा गया, "मैंने तुम्हें देखकर तो सीटी नहीं बजायी ?"

"वाह, सड़क पर तो और कोई आता-जाता दिखाई नहीं देता !"

"मैं 'गॉड सेव द किंग' की धुन बजा रहा था। तुमने पहचानी नहीं ?"

केन काका की नौकरी

"केन काका के बारे में कुछ करना होगा !" आखिर, एक दिन दादी ने हताश होकर अपने आपसे कहा।

मैं किचन में दादी के पास बैठा मटर छील रहा था और बीच-बीच में एक-आध दाना अपने मुंह में भी डाल लेता था। सूजी बिल्ली साइडबोर्ड पर बैठी थी और बड़े धीरज से दादी को स्टू (उबला) गोश्त पकाते देख रही थी। सूजी को स्टू गोश्त अच्छा लगता था।

दादी कहे जा रही थीं, "यह बात नहीं कि उसका यहां रहना मुझे खलता है, और फिर मैं उससे कोई रुपया-पैसा भी तो नहीं चाहती, लेकिन किसी नौजवान के लिए इतने लंबे समय तक बेकार रहना भला ठीक लगता है !"

"दादी, केन काका नौजवान हैं क्या ?"

"चालीस का हो गया। हर कोई कहता है, बड़ा होकर समझदार हो जायेगा।"

"केन काका मेबल आंटी के पास क्यों नहीं चले जाते ?"

"मेबल आंटी के यहां भी जाकर रहता है। एमिली आंटी और बेरिल आंटी के घर भी जाता है। यही तो मुसीबत है इसकी—इतनी सारी बहनें हैं इसकी, जो इससे प्यार-मनुहार करती हैं और इसे अपने पास रखने को भी तैयार हैं और इसकी हरकतें भी बरदाश्त करती हैं...उनके पति खाते-पीते लोग हैं और जब-तब इसे अपने पास रखने की स्थिति में भी हैं। इसीलिए केन तीन महीने एमिली के यहां और तीन महीने मेरे पास बिताता है। इस तरह, वह किसी न किसी का मेहमान बन कर पूरा साल बिता देता है और इसीलिए इसे खाने-कमाने की कोई चिंता नहीं होती।

"एक तरह से केन काका भाग्यशाली हुए न !" मैंने कहा।

"इसका भाग्य हमेशा इसका साथ नहीं देगा। अब तो मेबल भी न्यूजीलैंड जाने की बात कह रही है। और एक बार हिंदुस्तान आजाद हो गया, एक-दो बरस के भीतर होगा ही, तो एमिली और बेरिल भी शायद इंग्लैंड चली जायेंगी, क्योंकि उनके पति फौज में हैं। और सारे अंग्रेज अफसर भी चले जायेंगे।"

"केन काका उनके साथ इंग्लैंड क्यों नहीं चले जाते ?"

"वह जानता है, वहां जायेगा तो उसे काम करना पड़ेगा। जब तुम्हारी आंटियां देखेंगी कि नौकरों-चाकरों के बिना ही काम चलाना है, तो वे ज्यादा देर तक केन काका को रखने को तैयार नहीं होंगी। और फिर, इंग्लैंड या न्यूजीलैंड जाने का उसका भाड़ा कौन देगा ?"

"अगर केन काका नहीं गये, तो क्या वह यहीं आपके पास ही रहेंगे, दादी ? आप तो यहीं रहेंगी न ?"

"हमेशा के लिए थोड़े। जब तक जीवित हूं।"

"दादी, आप इंग्लैंड नहीं जायेंगी ?"

"नहीं, मैं यहीं बड़ी हुई। मेरी दशा पेड़ों जैसी है। मैंने जड़ पकड़ ली है यहां। मैं कहीं नहीं जाऊंगी। तब तक नहीं, जब तक बूढ़े पेड़ की तरह मेरे सारे पत्ते नहीं झड़ जाते...हां, बड़े होकर तुम चले जाओगे। अपनी पढ़ाई शायद तुम इंग्लैंड में ही पूरी करो।"

"नहीं, मैं तो यहीं पढ़ूंगा। मैं अपनी सारी छुट्टियां आपके साथ बिताना चाहता हूं, दादी ! अगर मैं इंग्लैंड चला गया, तो बुढ़ापे में आपकी देखभाल कौन करेगा ?"

"मैं बूढ़ी तो हो ही गयी हूं। साठ पार कर गयी।"

"इतनी उम्र क्या ज्यादा होती है ? केन काका से थोड़ी ही तो ज्यादा है। और जब आप सचमुच बूढ़ी हो जायेंगी, दादी, तो केन काका की देखभाल कौन करेगा ?"

"वह चाहे तो अपनी देखभाल खुद कर सकता है। वक्त आ गया है कि वह ऐसा करना सीख ले। फिर यही वक्त है, वह कोई काम-धंधा भी ढूंढ़ ले।"

मैंने भी इस समस्या पर विचार किया। मुझे ऐसा कोई काम दिखाई नहीं पड़ता था जो केन काका के अनुकूल होता—या यों कहिए कि कोई आदमी ऐसा नहीं दिखा जो केन काका को अनुकूल समझे। तब आया ने ही एक सुझाव दिया।

वह बोली, "गुलशन की महारानी को बच्चों के लिए ट्यूटर चाहिए। एक लड़का है, एक लड़की है, बस।"

"तू कैसे जानती है ?" दादी ने पूछा।

"बच्चों की आया के मुंह से सुना है। दो सौ रुपए देते हैं और काम भी कोई ज्यादा नहीं है—हर रोज सुबह दो घंटे।"

मैंने कहा, "केन काका को पसंद आना चाहिए।"

"ठीक कहते हो।" दादी बोलीं, "उसे समझाते हैं कि एक अर्जी डाल ही दे। चाहिए तो यह कि वह खुद जाकर उनसे मिले। महारानी की नौकरी अच्छी रहेगी।"

केन काका ने वहां जाना और काम के बारे में पूछताछ करना स्वीकार कर लिया। जब वह गये तो महारानी घर पर नहीं थी, मगर महाराजा ने उनका इंटरव्यू लिया।

"तुम टेनिस खेलते हो ?" महाराजा ने पूछा।

"जी, खेल लेता हूं !" केन काका बोले। उन्हें याद आया कि जब वह स्कूल में पढ़ते थे, तो थोड़ी-बहुत टेनिस खेल लेते थे।

"ठीक है, यह नौकरी तुम्हारी हुई। मैं डबल्स मैच के लिए चौथे खिलाड़ी की तलाश में था...और सुनो," इंग्लैंड के एक प्रसिद्ध शिक्षा केंद्र का नाम लेकर उन्होंने पूछा, "कभी कैंब्रिज में रहे हो ?"

"नहीं, मैं आक्सफोर्ड में था।" केन काका ने एक अन्य शिक्षा केंद्र का नाम लेकर जवाब दिया।

इस बात से महाराजा बड़े प्रभावित हुए। वह अपने बच्चों के लिए किसी ऐसे ही ट्यूटर की तलाश में थे जो आक्सफोर्ड में पढ़ा हो और टेनिस भी खेलता हो।

केन काका ने आकर इस इटरव्यू की बात दादी को बतायी। दादी बोलीं, "लेकिन, केन, तू तो कभी आक्सफोर्ड गया नहीं ! फिर यह बात क्यों कही तूने ?"

"और क्या, मैं आक्सफोर्ड गया हूं। भूल गयीं, वहां मैं तुम्हारे भाई जिम के साथ दो साल रहा।"

"हां, मगर तुम तो शहर में उसके 'पब' (शराबखाना) में नौकरी करते थे। तुम आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी तो कभी नहीं गये।"

"ठीक है...महाराजा ने मुझसे पूछा ही नहीं कि मैं यूनिवर्सिटी गया या नहीं। उसने तो यही पूछा था कि मैं कैंब्रिज में रहा कि नहीं। तब मैंने बता दिया, मैं आक्सफोर्ड में रहा हूं जो एकदम सच है। महाराजा ने मुझसे यह नहीं पूछा कि मैं आक्सफोर्ड में क्या करता था। अजी, फर्क क्या पड़ता है !" और केन काका सीटी बजाते हुए चलते बने।

हमें यह जानकर बड़ा अचरज हुआ कि केन काका अपनी इस नौकरी में खूब चमके। क़म से कम शुरू में तो ऐसा ही हुआ।

महाराजा इतना खराब टेनिस खेलते थे कि वह यह जान कर प्रसन्न हुए कि कोई उनसे भी खराब खेल सकता है। सो, केन काका महाराजा के 'डबल्स' में पार्टनर होने के बजाय 'सिंगल्स' में उनके चहेते विरोधी बन गये। जब तक वह महाराजा से हारते रहेंगे, उनकी नौकरी बनी रहेगी।

टेनिस के मैचों के बीच और महाराज के साथ बतख का शिकार करने के बीच केन काका बच्चों को विद्यादान देने के लिए थोड़ा समय निकाल लेते थे। बच्चों को लिखना, पढ़ना और गणित सिखाते थे। बीच-बीच में मुझे भी अपने साथ ले जाते, ताकि कभी कोई सवाल गलत निकालें, तो मैं उन्हें बता दूं। केन काका घटा के सवालों में कमजोर थे।

महाराजा के बच्चे मुझसे छोटे थे। केन काका यह कहकर मुझे उनके पास बैठा जाते—"रस्टी, जरा देखते रहना, ये सवाल सही निकालें।" और जेब में हाथ डाले बेसुरी सीटी बजाते हुए वह टेनिस कोर्ट की तरफ निकल जाते।

उनके दोनों छात्र यदि एक ही सवाल के अलग-अलग जवाब निकालते, तो भी केन काका दोनों की पीठ थपथपाते हुए कहते, "बहुत खूब ! बहुत खूब ! मुझे खुशी है कि तुम दोनों डट कर मेहनत करते हो। एक का जवाब सही है, और दूसरे का गलत। पर मैं किसी का दिल तोड़ना नहीं चाहता। इसलिए नहीं बताऊंगा कि कौन सही है और कौन गलत।"

लेकिन बाद में घर लौटते हुए वह मुझसे पूछते, "किसका जवाब सही था, रस्टी ?"

"दोनों गलत थे, केन काका," मैं कहता।

केन काका हमेशा यह दावा करते थे कि उनकी लगी-लगाई नौकरी न छूटती, यदि महाराजा को वह टेनिस में न हराते।

ऐसी बात नहीं थी कि केन काका महाराजा से जीतने को लालायित थे। मगर यदा-कदा वह महाराजा के सचिवों और अतिथियों के साथ टेनिस खेलते-खेलते अच्छा खेलना सीख गये थे। और इस तरह महाराजा से हारने की भरसक कोशिश के बावजूद एक मैच वह उनसे जीत ही गये।

इस पर महाराजा एकदम भड़क उठे।

"मिस्टर बांड !" महाराजा ने कठोर स्वर में कहा, "हम नहीं समझते कि तुम हारने का महत्व समझते हो। सभी जीत नहीं सकते। हारने वाले न हों, तो

दुनिया कहां जायेगी ?"

"बहुत अफसोस है महामहिम," केन काका बोले, "मैं तो संयोग से जीत गया।"

उस दिन तो महाराजा ने केन काका को क्षमा कर दिया। मगर हफ्ते भर बाद फिर यही हुआ। केन काका फिर जीते और इस बात से महाराजा इतने खफा हुए कि बिना कुछ बोले भुनभुनाते हुए टेनिस कोर्ट से निकल गये।

अगले दिन महाराजा पढ़ाई के वक्त आ धमके। केन काका और दोनों बच्चे हर रोज की तरह उस समय 'सिफर-काटे' के खेल में मगन थे।

"मिस्टर बांड ! कल से तुम्हारी सेवाओं की हमें आवश्यकता नहीं होगी। हमने अपने सचिव से कह दिया है कि नोटिस के बदले तुम्हें एक महीने का वेतन दे दें।"

केन काका जेबों में हाथ डाले खुशी-खुशी सीटी बजाते हुए घर लौटे।

"आज जल्दी आ गया तू !" दादी ने पूछा।

"उन्हें अब मेरी जरूरत नहीं रही !" केन काका बोले।

"खैर, कोई बात नहीं। भीतर आकर चाय पी ले।"

दादी तो जानती थी कि केन काका की यह नौकरी भी ज्यादा दिन नहीं चलेगी। फिर वह झिड़कती-फटकारती भी नहीं थीं। जैसा कि उन्होंने बाद में कहा, "इसने कम से कम कोशिश तो की। और यह नौकरी पहली नौकरियों से अधिक दिन चली—दो महीने।"

केन काका ने कार चलायी

अगली बार जब मैं देहरादून पहुंचा, तो मुझे रेलवे स्टेशन पर मोहन लिवाने आया। एक तांगे पर सामान रखवा कर हम सवार हुए और शहर की शांत सड़कों पर खड़खड़ करते हुए दादी के घर की तरफ चले।

"मोहन, क्या खबर है ?"

"कोई खास नहीं। कुछ साहब लोग मकान बेच कर जा रहे हैं। सूजी ने बच्चे दिये हैं।"

दादी जानती थीं कि मैं दो रातें ट्रेन में बिता कर आया हूं, इसलिए उन्होंने मेरे लिए ढेर सारा नाश्ता तैयार कर रखा था। यखनी, अंडा-टोस्ट, बेकन और छौंक लगे टमाटर। टोस्ट और मारमलेड। खूब दूध वाली मीठी-मीठी चाय।

दादी ने बताया कि केन काका की चिट्ठी आयी है।

"लिखता है, शिमला में फ़िरपो होटल में असिस्टेंट मैनेजर लगा है," दादी बता रही थीं, "खासा वेतन पाता है। फिर रहना और खाना-पीना मुफ्त है। पक्की नौकरी है और उम्मीद है वह टिक कर वहां काम करेगा।"

इस बातचीत के तीन दिन बाद ही केन काका बोरिया-बिस्तर और टूटा सूटकेस उठाए बरामदे की सीढ़ी पर खड़े दिखाई दिये।

"होटल की नौकरी छोड़ आया है क्या ?" दादी ने पूछा।

"नहीं," केन काका बोले, "उन्होंने होटल ही बंद कर दिया।"

"तुम्हारी वजह से ही तो बंद नहीं किया उन्होंने ?"

"नहीं, आंटी ! हिल स्टेशनों पर जितने बड़े-बड़े होटल हैं, सब बंद होते जा रहे हैं।"

"खैर, कोई बात नहीं। आ, नाश्ता कर ले। आज रस्टी के मनपसंद कोफ्ते बने हैं।"

"तो, वह भी यहीं है ? पता नहीं कितने भतीजे-भतीजियां, भांजे-भांजियां हैं मेरे। मगर मेबल की दोनों लड़कियों से तो ठीक ही है। जितने दिन मैं उनके साथ शिमला में रहा, छोकरियों ने नाक में दम किये रखा।"

नाश्ते पर केन काका बड़ी गंभीरता से रोजी-रोटी कमाने के उपायों की बात करते रहे।

"सारे देहरादून में सिर्फ एक टैक्सी है।" वह ध्यानमग्न से बोल रहे थे, "निश्चय ही एक ओर टैक्सी की गुंजाइश है।"

"हां, है तो !" दादी बोलीं, "पर तुझे इससे क्या ? पहली बात तो यह कि तेरे पास टैक्सी नहीं है। फिर, तू चलाना भी तो नहीं जानता।"

"जल्दी ही सीख लूंगा। शहर में एक ड्राइविंग स्कूल है। और फिर अंकल की पुरानी कार का इस्तेमाल भी तो किया जा सकता है। बरसों से गेराज में खड़ी धूल चाट रही है।" (केन काका का आशय दादा जी की पुरानी 'हिलमैन रोड्स्टर' कार से था, जो 1925 का मॉडल थी। इस तरह करीब बीस साल पुरानी हुई।)

"मैं नहीं समझती, यह कार अब चलेगी," दादी बोलीं।

"चलेगी, जरूर चलेगी। बस, थोड़ा तेल और ग्रीस देने की जरूरत है। और थोड़ा-सा पेंट करने की।"

"ठीक है, तो ड्राइविंग सीख ले ! फिर 'रोड्स्टर' के बारे में सोचेंगे।"

इस तरह केन काका ड्राइविंग स्कूल जाने लगे।

वह नियम से शाम को एक घंटे के लिए गाड़ी चलाना सीखते। फीस दादी ने अपनी गांठ से दी।

एक महीने बाद केन काका ने आकर घोषणा की कि वह गाड़ी चला सकते हैं और परीक्षण के लिए 'रोड्स्टर' को बाहर निकालेंगे।

"तेरे पास अभी लाइसेंस भी तो नहीं है," दादी बोलीं।

"तो क्या हुआ, अधिक दूर नहीं ले जाऊंगा।" केन काका बोले, "बस, बाहर सड़क पर और फिर वापस।"

सुबह काफी देर तक वह कार साफ करते रहे। दादी ने पेट्रोल के पैसे भी अपनी जेब से दिये।

चाय के बाद केन काका बोले, "चल रस्टी, मेरे साथ गाड़ी में बैठ, तुझे सवारी करवा दूं। मोहन को भी साथ ले ले।"

मोहन और मैं कोई जोखिम नहीं उठाना चाहते थे। "अगली बार, काका !" मैंने कहा।
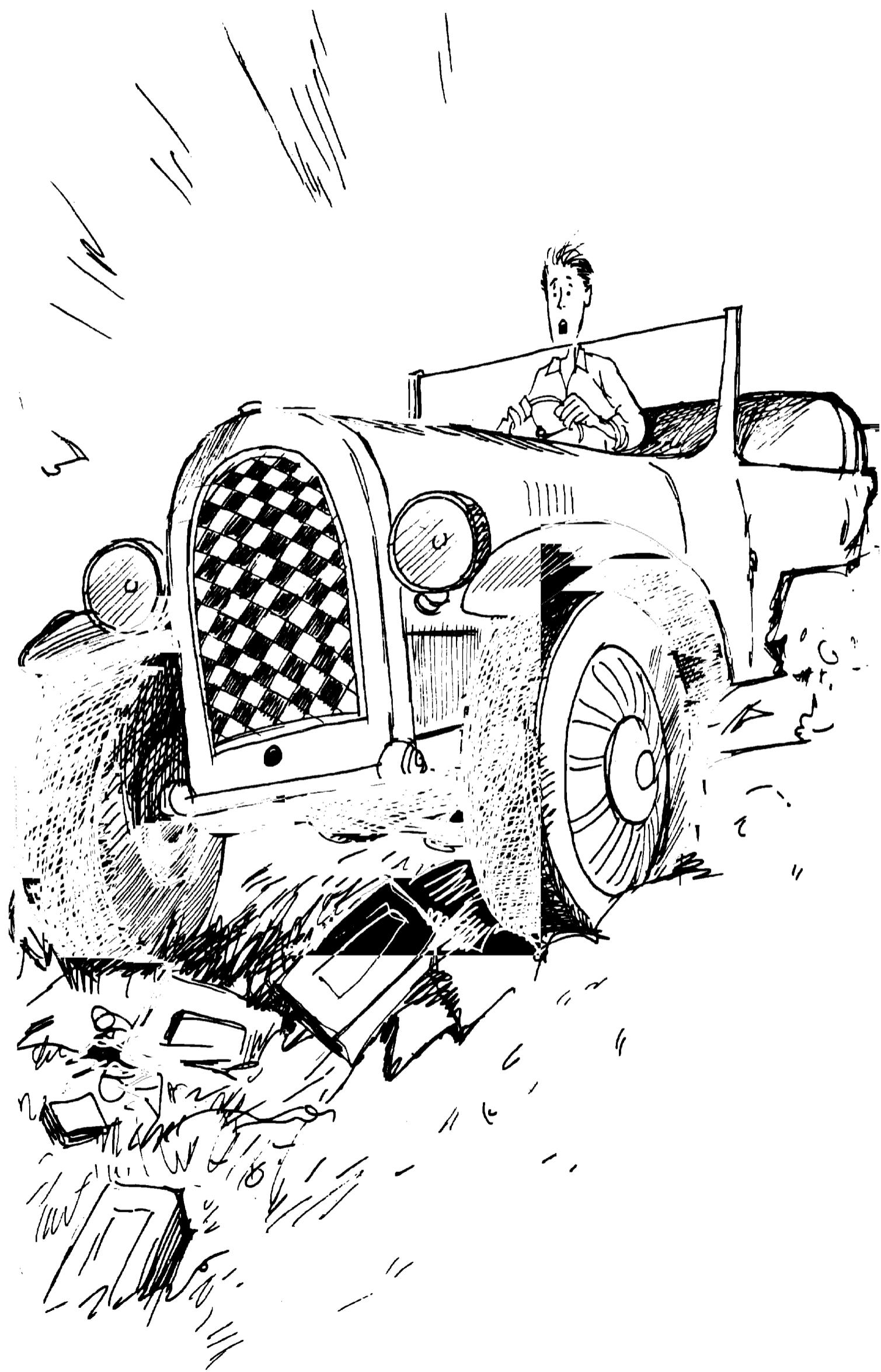
"केन, ज्यादा तेज न चलाना।" दादी बोलीं, "अभी इस पर तुम्हारा हाथ नहीं सधा है।"

केन काका ने हामी भरी और मुस्कराते हुए दो बार जोर-जोर से हार्न बजाया। मन में लड्डू जो फूट रहे थे।

उधर से मिस केलनर शाम को टहलने के लिए घर से निकल रही थीं। केन काका को जब 'रोड्स्टर' में बैठे देखा, तो भीतर भागीं।

केन काका सीधे-सीधे तेज गाड़ी चलाते हुए लगातार हार्न बजाते जा रहे थे।

सड़क के अंतिम छोर पर गोल चक्कर था।

'यहां से गाड़ी मोड़ता हूं,' केक काका ने सोचा, 'और वापस चलता हूं।'

उन्होंने स्टियरिंग व्हील घुमाया और गोलचक्कर की परिक्रमा करनी चाही, मगर स्टियरिंग व्हील उतना घूमा ही नहीं जितना कि केन काका घुमाना चाहते थे...सो, गोल चक्कर लगाने की जगह गाड़ी दायीं तरफ घूम गयी और एकदम नाक की सीध में चलती गयी और जैसा कि होना था, सीधे गुलशन के महाराजा के बगीचे की दीवार तोड़कर भीतर घुस गयी।

दीवार एक ईंट की थी। 'रोड्स्टर' ने जोर से धक्का मार कर दीवार को धराशायी कर दिया और फिर दूसरी तरफ जा निकली। गनीमत थी कि न तो कार को, और न ही चालक को कोई नुकसान पहुंचा। केन काका ने गाड़ी महाराजा के लान के बीचों-बीच जाकर खड़ी कर दी।

महाराजा लान में ही खड़े थे। देखा, तो दौड़े आये। उनके साथ उनके सचिव और सहायक भी थे।

महाराजा ने जब देखा कि गाड़ी चलाने वाला कोई और नहीं, केन काका हैं, तो उनकी बाछें खिल गयीं।

तपाक से बोले, "तुम्हें देखकर खुशी हुई। अच्छा किया जो आ गये। हो जाये टेनिस की एक गेम, क्यों ?"

केन काका क्रिकेट खेले

हालांकि केन काका एक बार फिर महाराजा के कृपापात्र बन गये थे, फिर भी उन्हें नौकरी नहीं मिली।

दादी ने भी उन्हें 'हिलमैन' निकालने की इजाजत नहीं दी। सो, वह बैठे-बैठे कुढ़ते रहते। उनके अनुसार यह सब दादाजी की गलती थी, जिन्होंने दस साल पहले, जब वे जीवित थे, गाड़ी के स्टियरिंग व्हील की तरफ ध्यान ही नहीं दिया।

केन काका ने दो घंटों के लिए (नाश्ते और चाय के बीच) भूख हड़ताल की और फिर कई दिनों तक उनकी सीटी की आवाज भी सुनाई नहीं पड़ी।

"मौन भी एक वरदान है !" दादी बोलीं।

और फिर एक दिन केन काका ने घोषणा की कि वह लखनऊ में एमिली आंटी के यहां जा रहे हैं।

दादी ने कहा, "उसके तीन बच्चे हैं और फिर उसे स्कूल की देखभाल भी करनी पड़ती है। अधिक दिन वहां जमे न रहना, समझे !"

"मैं जितने भी दिन ठहरूं, उन्हें बिल्कुल नहीं अखरता।" चिढ़कर केन काका ने यह बात कही और चलते बने।

केन काका की लखनऊ यात्रा स्मरणीय बन गयी। यह सारा किस्सा हमें बहुत बाद में जाकर मालूम हुआ।

केन काका जब लखनऊ स्टेशन पर उतरे, तो विशाल भीड़ ने उन्हें घेर लिया। हर कोई उनकी तरफ हाथ हिलाते हुए हिंदी में, उर्दू में, अंग्रेजी में, उनके लिए स्वागत-सत्कार के शब्द बोल रहा था। केन काका को जब तक पता चले कि माजरा क्या है, वह गेंदे के हारों से लद गये। एक युवक के आगे आकर यह घोषणा की : "गोमती क्रिकेटिंग एसोसिएशन, ऐतिहासिक नगर लखनऊ में आपका स्वागत करती है।" और वह तत्काल उन्हें स्टेशन के बाहर खड़ी कार

तक ले गया।

गाड़ी जब स्पोर्ट्स स्टेडियम पहुंची, तब जाकर केन काका को मालूम हुआ कि उन्हें तो एक क्रिकेट मैच खेलना है।

सारा किस्सा कुछ यों हुआ :

प्रसिद्ध इंग्लिश क्रिकेट खिलाड़ी ब्रूस हैलम भारत के दौरे पर आये थे और उन्होंने लखनऊ में एक 'चैरिटी मैच' खेलना स्वीकार किया था। मगर दिल्ली में पिछली शाम उनका पेट ऐसा गड़बड़ हुआ कि रात की उखड़ी-उखड़ी नींद की वजह से ट्रेन पकड़ने के लिए वक्त से वे जाग नहीं पाये। लखनऊ में मैच के आयोजकों को तार भी दिया गया। मगर अधिकतर तारों की तरह यह तार भी अपने गंतव्य तक नहीं पहुंचा। लखनऊ के क्रिकेट-प्रेमी इस महान क्रिकेट खिलाड़ी का स्वागत करने के लिए स्टेशन पर टूट पड़े थे। और यह एक विचित्र संयोग ही था कि केन काका और ब्रूस हैलम के चेहरे-मोहरे में अद्भुत साम्य था, यहां तक कि दोनों की चांद भी एक जैसी थी। इस तरह यह सब गड़बड़-घोटाला हुआ। सच पूछो, तो केन काका इस तरह की गड़बड़ से प्रसन्न थे।

गोमती क्रिकेटिंग एसोसिएशन का भव्य स्वागत-सत्कार पाकर और स्टेडियम में शानदार नाश्ता करने के बाद केन काका ने सोचा कि यदि वह लखनऊ के लोगों के लिए क्रिकेट नहीं खेलते, तो उनके लिए यह शोभा की बात नहीं होगी। उन्होंने सोचा—'अगर मैं टेनिस की गेंद को हिट कर सकता हूं, तो क्रिकेट की गेंद को भी हिट करने में मुझे समर्थ होना चाहिए।' और सौभाग्य से उनके सूटकेस में एक ब्लेजर और एक सफेद पतलून भी थी।

गोमती टीम ने टास जीता और बल्लेबाजी करने का फैसला किया। केन काका को तीसरे नंबर पर खेलना था, जैसा कि ब्रूस हैलम आमतौर पर खेला करते थें। जल्दी ही उनकी बारी आ गयी और वह विकेट की तरफ चले। चलते हुए यह अचरज करते जा रहे थे कि अभी तक इससे आरामदेह पैड क्यों नहीं बनाये किसी ने।

पहली गेंद शार्ट-पिच थी। केन काका ने उसे टेनिस की गेंद की तरह ही लिया और मिड विकेट बाउंड्री की तरफ हिट कर दिया। भीड़ झूम उठी और वाहवाही करने लगी।

अगली गेंद केन काका के पैड पर लगी। वह अपनी विकेट के एकदम सामने थे और उन्हें एल. बी. डब्ल्यू. करार दिया जाना चाहिए था। मगर अंपायर
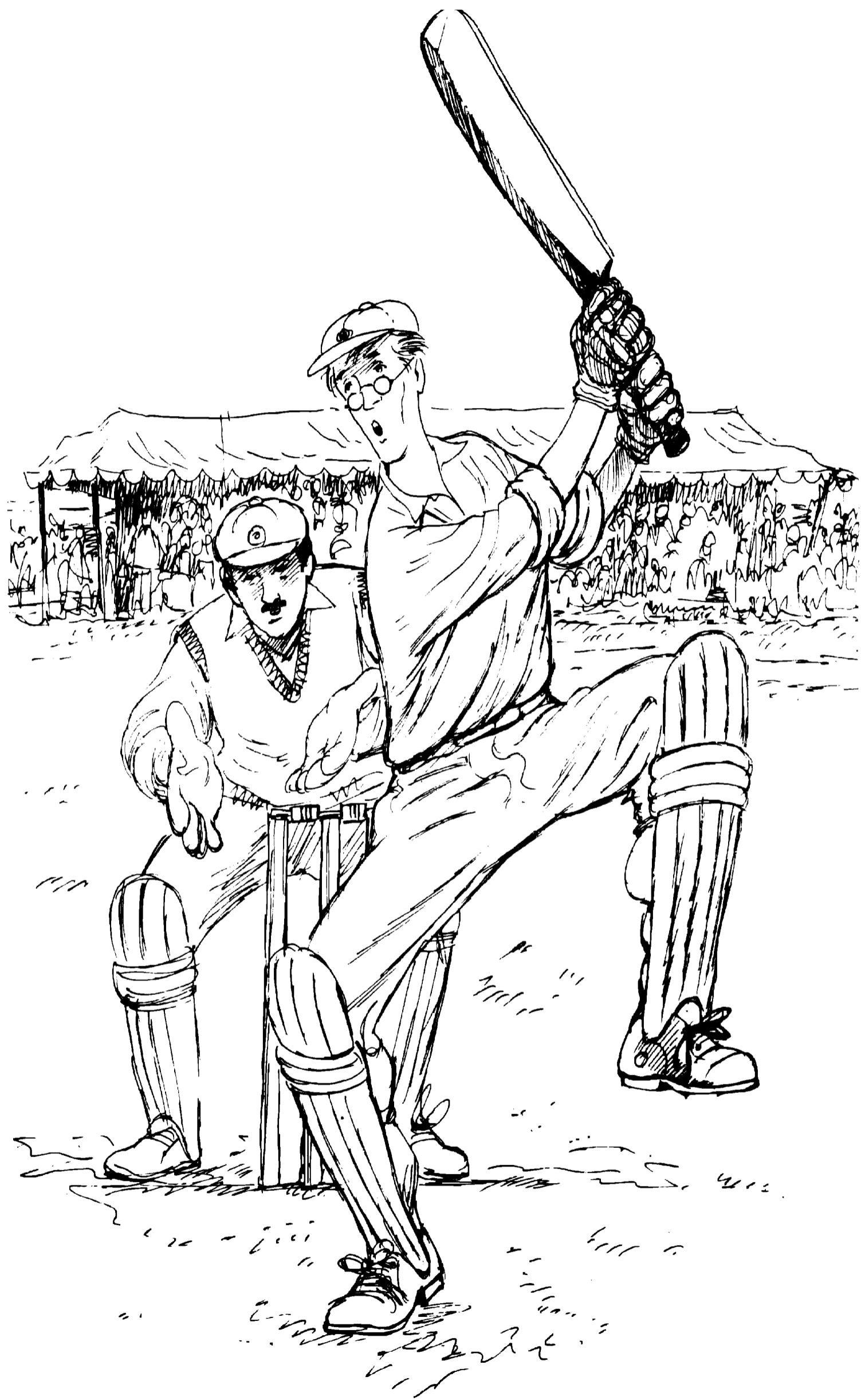
ने उंगली उठाने में संकोच किया। आखिर, सैकड़ों दर्शकों ने ब्रूस हैलम का खेल देखने के लिए मोटी रकम खर्च की थी और उन्हें निराश करना शर्म की बात होती।

"नाट आउट !" अंपायर ने कहा।

तीसरी बाल केन काका के बल्ले पर लगी और स्लिप्स में से निकल गयी।

"लवली शॉट !" पैविलियन में बैठे एक बुजुर्ग खुशी से चिल्ला पड़े।

"क्लासिक लेट-कट !" दूसरा बोला।

गेंद बाउंड्री से जा लगी और केन काका को चार रन मिल गये। ओवर खत्म हुआ और दूसरे बल्लेबाज ने बाल का सामना किया। उसने पहली बाल पर ही एक रन ले लिया और फिर दूसरे रन का इशारा किया। केन काका ने सोचा कि एक ही रन काफी है। क्यों पागलों की तरह विकेटों के बीच दौड़ते फिरो ? फिर भी उन्हें दौड़ना पड़ा। अभी पिच पर वह आधी दूरी भी तय नहीं कर पाये थे कि फील्डर ने गेंद विकेट पर दे मारी। कई गज की दूरी पर केन काका रन-आउट हो गये। इस बार शक की कोई गुंजाइश नहीं थी।

केन काका पैविलियन की तरफ लौट चले, तो भीड़ ने सहानुभूति में तालियां बजायीं।

पैविलियन में बैठा वह बुजुर्ग कह रहा था, "इसका क्या दोष ! दूसरे खिलाड़ी को रन बनाने के लिए बोलना ही नहीं चाहिए था। दूसरा रन बन ही नहीं सकता था। मगर, इतनी दूर कानपुर से चल कर आना सार्थक हुआ। कितना बढ़िया लेट-कट देखने को मिला !"

केन काका ने दोपहर को खूब छक कर टिफिन (खाना) खाया और फिर यह सोचकर कि दोपहर के बाद अधिकतर समय तक गोमती टीम को फील्डिंग करनी पड़ेगी और नाहक दौड़ना-भागना पड़ेगा, वह पैविलियन से चुपके से खिसक गये। स्टेडियम से निकल कर एक तांगे में बैठे और छावनी में एमिली आंटी के घर जा पहुंचे।

केन काका वक्त पर पहुंचे थे। एमिली आंटी के परिवार के साथ उन्होंने एक बजे दूसरी बार लंच किया।

उधर, स्टेडियम में सब यही अनुमान लगा रहे थे कि ब्रूस हैलम इलाहाबाद की गाड़ी पकड़ने के लिए थोड़ा जल्दी चले गये हैं, क्योंकि वहां भी उन्हें एक 'चैरिटी मैच' खेलना था।

एमिली आंटी दबंग औरत थी। उसने केन काका को एक सप्ताह तक

खिलाया-पिलाया और फिर अपने स्कूल में बच्चों की डॉरमिटरी के काम में जोत दिया। कई महीनों तक हाड़ तोड़कर केन काका ने इतने रुपए बचा लिए कि एक दिन अचानक वहां से भाग खड़े हुए और मुंह उठाये दादी के घर पहुंचे।

मगर केन काका को इस बात का संतोष था कि उन्होंने ब्रूस हैलम जैसे महान खिलाड़ी के खाते में चार रन और जोड़ दिये थे। गोमती क्रिकेटिंग एसोसिएशन की 'स्कोर बुक' में केन काका के कमाल को इस तरह दर्ज किया गया :

बी. हैलम रन आउट 4

गोमती टीम वह मैच हार गयी। लेकिन जैसा कि केन काका फौरन स्वीकार करेंगे, हारने वालों के बिना हम कहां होंगे ?

स्कूल से भागना
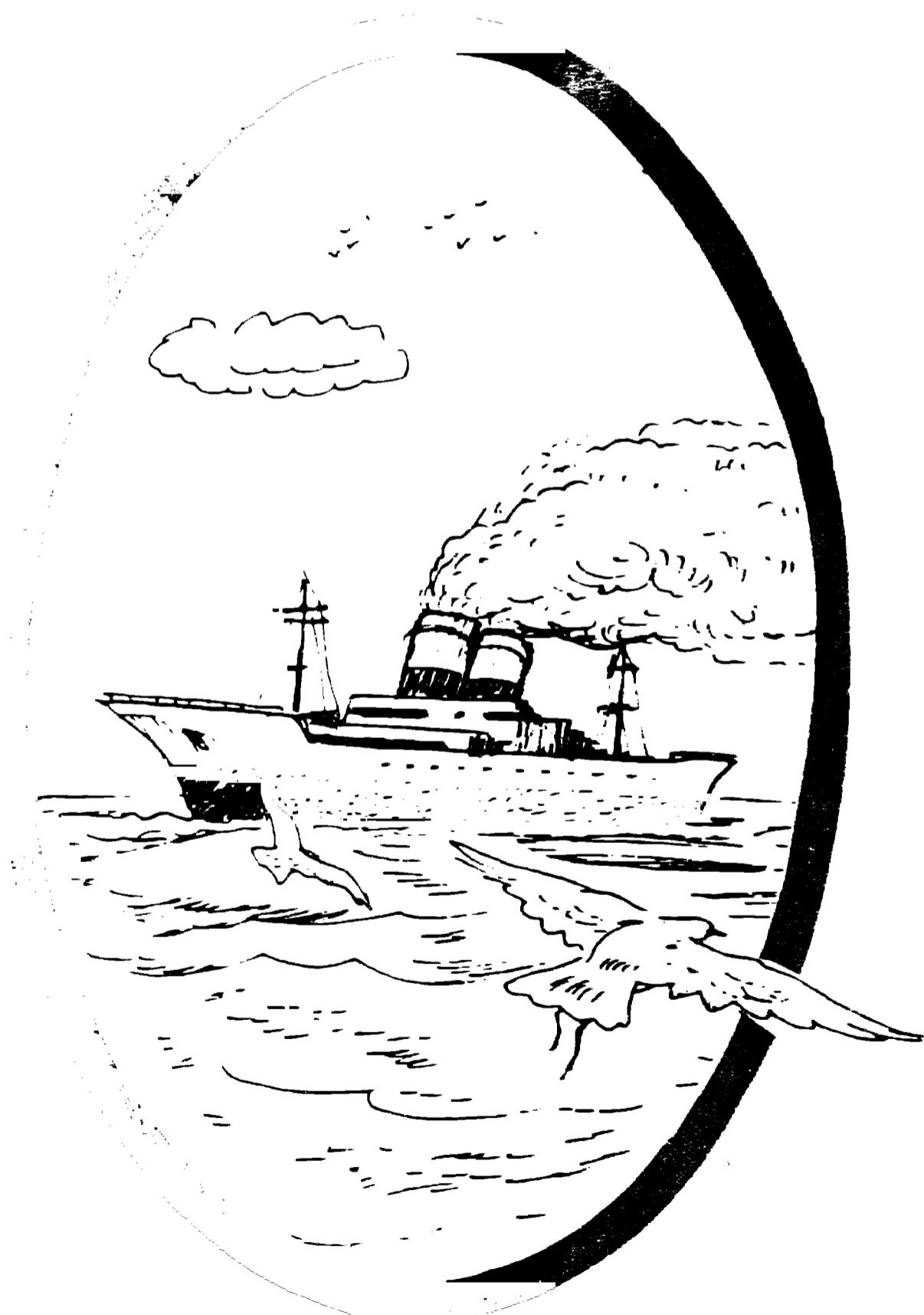
मोम्बासा जाने की शानदार योजना

स्कूल के गुंबद की बड़ी घड़ी ने ग्यारह बजाये, तो मैं चुपके से बिस्तर से निकला, चुपचाप जिमनास्टिक के जूते पहने और दबे पांव डॉरमिटरी से खिसक चला।

दहलीज पर आकर मैं तनिक ठिठका। पीछे मुड़कर अंधेरे कमरे में झांककर देखा कि कहीं कोई जाग तो नहीं गया। फिर मैं फुर्ती से गलियारे में आया और सीढ़ियां उतर गया। दलजीत पहले ही बरामदे में खड़ा था। वह सिख था। उसने रात को सोने से पहले पगड़ी उतार कर रख छोड़ी थी और लंबे केशों का जूड़ा बना लिया था। उसके बदन पर सफेद कुर्ता-पाजामा अंधेरे में प्रकाश-स्तंभ की तरह चमक रहा था। खटका हम दोनों को इस बात का था कि आसपास अध्यापक हुए, तो हम पकड़े जायेंगे।

दलजीत ने मुझे देखते ही अपने होंठों पर उंगली रख कर खामोश रहने का संकेत किया। वैसे, इसकी कोई जरूरत नहीं थी, क्योंकि मैं पहले से ही चौकन्ना था। लेकिन दलजीत तो मजा ले रहा था और हर बात को रहस्यमय बना देना चाहता था।

दलजीत पंजों के बल बिना आहट किए चलना जानता ही नहीं था। उसके पैर बहुत बड़े थे। अकसर हम सब इस बात के लिए उसे छेड़ते भी थे। पंजाब में एक कहावत है कि किसी के पैर बड़े हों, तो वह सिर्फ मेहनत-मजदूरी के काम के लायक होता है। दलजीत इसका खंडन करता था। कहता था, यदि किसी के पैर बड़े हों, तो वह खूब सैर-सपाटा करता है, और आज वह इसे सिद्ध करने को उतारू था।

हम चुपचाप, पैविलियन के सामने वाले मैदान में दौड़ते चले गये। ऊपर आकाश में मानसून के बादल मंडरा रहे थे। पैविलियन की सीढ़ियों से उतरकर

हम व्यायामशाला में घुसे। व्यायामशाला का दरवाजा अकसर खुला रहता था, और इस विशाल सीलन-भरे कमरे में ही हम रात को चुपके-चुपके बैठकें किया करते थे, जिसमें से नारियल की जटाओं, वारनिश और पसीने की बास आती रहती थी।

स्कूल से भागने से पहले यह अंतिम बैठक थी हमारी।

"सारी तैयारी हो गयी ?" दलजीत ने मोमबत्ती का टुकड़ा जलाकर हम दोनों के बीच फर्श पर जमाते हुए पूछा।

हम दोनों आमने-सामने पालथी मारे बैठे थे। मोमबत्ती की रोशनी दलजीत के गोल हंसमुख चेहरे पर चमक रही थी और मैं परछाई में बैठा था।

"सब तैयार है," मैंने कहा। "चाकू है, बिस्कुटों के दो पैकेट हैं, थोड़ी-सी रोटी है, मछली का डिब्बा है, और थोड़ी मिठाई-विठाई भी है।"

रोटी हमने पिछले सप्ताह भोजन में से बचा कर छिपा ली थी, जो अब बासी होकर सख्त और कड़ी हो गयी थी। मगर मैं दिखाना यह चाहता था कि मैंने अधिक से अधिक चीजें बटोर ली हैं।

"बहुत ज्यादा तो नहीं हैं !" दलजीत बोला, "और रुपये कितने हैं तेरे पास ?"

"छह...यानी कि दो महीने का जेबखर्च !"

"कोई बात नहीं, रस्टी।" दलजीत जानता था कि मुझे ज्यादा जेबखर्च नहीं मिलता। कहने लगा, "खैर, मेरे पास तीसेक रुपये हैं, इसलिए रुपये-पैसे की ज्यादा चिंता, कम से कम अभी तो नहीं ही करनी पड़ेगी।...फिर, मेरे पास थोड़ा पनीर, जैम, चाकलेट और अचार भी है। अपने पिछले पार्सल में से ये सारी चीजें मैंने बचाकर रखी हैं।"

"चाकलेट के साथ अचार खायेंगे ?"

"जी नहीं। रास्ते में जो खाने को मिले उसे इनके साथ खायेंगे।"

दलजीत के पिता पूर्वी-अफ्रीका में व्यापार करते थे और अकसर खाने की चीजों के पार्सल उसे भेजते रहते थे। दलजीत की योजना यह थी कि किसी तरह वह अफ्रीका वापस पहुंचे, क्योंकि हिंदुस्तान में बोर्डिंग स्कूल के जीवन से वह एकदम उकता गया था। यही वजह थी कि हम दोनों ने भागने की योजना बनायी। मेरे चाचा एक छोटे स्टीमर के कप्तान थे, जो पूर्व-अफ्रीका के मोम्बासा बंदरगाह से, हिंदुस्तान के पश्चिमी तट पर स्थित दो छोटे बंदरगाहों, जामनगर और द्वारका के बीच अदल-बदल कर चलता था। 'एस. एस. लूसी' नामक, मेरे चाचा का, वह जहाज महीने के अंत में जामनगर में लंगर डालने वाला था और हमें भरोसा

था कि हम कहेंगे तो वह हमें जहाज पर बैठाकर अपने साथ ले चलने को तैयार हो जायेंगे।

दलजीत अफ्रीका लौटने को आतुर था। उसका कहना था कि जब उसके पिता की समझ में यह बात आ जायेगी कि वह अपने बलबूते पर वापस आ सकता है, तो फिर वह उसे हिंदुस्तान में किसी स्कूल में भेजने का खतरा मोल नहीं लेंगे।

मैं भी यहां से भागना चाहता था, मगर मेरे भागने के कारण दूसरे थे। बेशक, उनमें से एक कारण स्कूल भी था। यों, हमारा स्कूल चार्ल्स डिकेंस के डोथब्वायस हाल जैसा उबाऊ नहीं था, फिर भी यह कोई अच्छा स्कूल नहीं था। वहां का प्रिंसिपल उसे स्कूल की तरह न चलाकर, एक धंधे की तरह चलाता था। 'हरड़ लगे न फिटकरी, रंग आये चोखा,' यह उसका सिद्धांत-वाक्य हुआ करता था। फीस खूब तगड़ी लेता, बदले में हमें देता घटिया खाना और घटिया अध्यापक। बहरहाल, हम लड़कों की यही धारणा थी।

वैसे, सच पूछो तो अरुंडेल (हां, यही था हमारे स्कूल का नाम !) में दलजीत के आने की वजह उसकी अपनी कमियां थीं। उससे पहले जितने भी स्कूलों में वह दाखिल हुआ, कहीं टिक नहीं पाया, और एक के बाद एक कई स्कूल बदलने के बाद वह अरुंडेल में आया था। वहां भी मसूर की पानी जैसी पतली दाल और चर्बीयुक्त गोश्त खाते-खाते वह ऊब गया और तीन महीने बाद ही भागने को व्याकुल हो उठा।

"इस स्कूल के बाद मैं किसी दूसरे स्कूल में नहीं जाऊंगा," दलजीत ने घोषणा की थी, "मैं नैरोबी में सीधा अपने पिता के व्यापार में लग जाऊंगा। पढ़-लिख सकता हूं। मुनाफे और घाटे के बीच का अंतर भी समझता हूं। बस, मेरे लिए इतना काफी है। तू क्या करेगा, रस्टी ?"

"मैं लेखक बनना चाहता हूं !" मैंने कहा, "स्कूल जाने में मुझे कोई एतराज तो नहीं, लेकिन यह स्कूल मुझे बिल्कुल पसंद नहीं, और मैं जानता हूं कि मेरे गार्जियन मुझे किसी और स्कूल में नहीं भेजेंगे।"

मेरे माता-पिता का देहांत हो चुका था, और मेरे गार्जियन ने मुझे अरुंडेल में इसलिए दाखिल करवाया था, क्योंकि स्कूल के प्रिंसिपल उनके मित्र थे और फीस भी आधी भरनी पड़ती थी। अरुंडेल आने से पहले मैं नीचे मैदानी इलाके के एक स्कूल में पढ़ता था। पर ज्यों-ज्यों मैं बड़ा होता गया, मेरे गार्जियन को मेरी देखभाल करने में दिक्कत होने लगी। मेरा व्यवहार विद्रोही होता जा रहा था। मैं घर बैठने की जगह गलियों-बाजारों में मटरगश्ती करता फिरता था। फिर,

मेरी दिलचस्पी तो किताबों में थी, जबकि मेरे गार्जियन जंगल में शिकार जैसे जोखिम-भरे काम करके अपना मनोरंजन करते थे। मैंने अपने गार्जियन (वह मेरी मां के चचेरे भाई लगते थे) की कभी कोई परवाह नहीं की और वह मुझसे एकदम निराश हो चुके थे।

मगर स्कूल से भागने का मुख्य कारण यह भी नहीं था कि मैं गली-कूचों में आवारागर्दी करना या फिर अपने गार्जियन के ही घर लौट जाना चाहता था। सच्चाई यह थी कि मैं जामनगर में अपने चाचा के जहाज तक पहुंचना चाहता था।

जिम चाचा मेरे पिता के छोटे भाई थे। आखिरी बार उन्होंने मुझे तब देखा था, जब मैं पांच बरस का था। अब मैं बारह का हो गया था। इस अवधि में जिम चाचा कभी-कभी मुझे चिट्ठी लिखते रहे थे और उनकी चिट्ठियों पर भिन्न-भिन्न देशों के रंग-बिरंगे डाक-टिकट होते थे। जिम चाचा की चिट्ठियां वालपरायसो, सान डिएगो, सान फ्रांसिस्को, ब्यूनस आयर्स, दार-अस्-सलाम, मोम्बासा, फ्रीटाउन, सिंगापुर, बंबई, मारसेल्ज, लंदन जैसी जगहों से आती थीं ...ये वे कुछ स्थान थे जहां उनका जहाज लंगर डाला करता था। वे किसी एक मार्ग पर दूसरी बार यात्रा कभी-कभार ही करते थे। ऐसा प्रतीत होता था, धरती के सागरों में वह बड़े इत्मीनान से विचरण करते फिरते थे और ऐसे बंदरगाहों पर लंगर डालते थे जिनके बारे में मेरे मन में तरह-तरह की अद्भुत, निराली कल्पनाएं घर कर चुकी थीं, क्योंकि मैंने स्टीवेन्सन, कैप्टन मेरिएट, कानरेड तथा डब्ल्यू. डब्ल्यू. जैकब्स जैसे लेखकों की किताबें पढ़ रखी थीं।

जिम चाचा अपनी चिट्ठियों में अक्सर लिखते थे कि मैं उनके साथ जहाज में सवार होकर समुद्र-यात्रा करूं। मगर साथ ही यह भी लिख देते, "तब, जब तुम थोड़े बड़े हो जाओगे, रस्टी !"

मैं महसूस करता था कि अब मैं काफी बड़ा हो गया हूं। मैं अपने स्कूल से और अपने गार्जियन से ऊब चुका था। मगर महज इतनी बात ही नहीं थी। मुझे दुनिया से प्यार हो गया था। मैं सारी दुनिया को, उसके एक-एक कोने को, उन सब जगहों को, जिनके बारे में पुस्तकों में पढ़ चुका था, अपनी आंखों से देखना चाहता था। हांगकांग के चपटे पैंदे वाले चीनी जहाज और सांपान (एक तरह की चीनी नौकाएं जिनमें लोग रहते भी हैं), इंडीज और उसके आसपास के इलाकों में ताड़ के पेड़ों से घिरे समुद्र-ताल, लंदन की सड़कें, अफ्रीका के आबनूसी (गहरे काले) रंग वाले निवासी और अमेजन के रंग-बिरंगे पक्षी और मनोहर पेड़-पौधे...इन सबको मैं देखना चाहता था।

जिम चाचा की जब आखिरी चिट्ठी आयी थी, जिसमें उन्होंने यह लिखा था कि महीने के अंत में किसी भी दिन उनका जहाज जामनगर में लंगर डालेगा तो मैं आशा के झूले में झूलते हुए एकदम पुलकित हो उठा था। मैंने सोचा था, आखिरकार वह मौका आ ही गया ! यह सच है कि जिम चाचा ने मुझे अपने साथ ले चलने के बारे में कोई बात नहीं लिखी थी, मगर उन्हें मालूम भी कैसे होता कि मैं उनके साथ जाने को इतना बेताब हूं।

सवाल सिर्फ स्कूल से भागने और झटपट गाड़ी पकड़ कर बंदरगाह पर पहुंचने का नहीं था। जामनगर पश्चिमी समुद्र-तट पर स्थित था और उत्तर भारत में पहाड़गंज नामक हिल स्टेशन से, जहां हमारा स्कूल था, कम से कम आठ सौ मील की दूरी पर था।

आठ सौ मील !
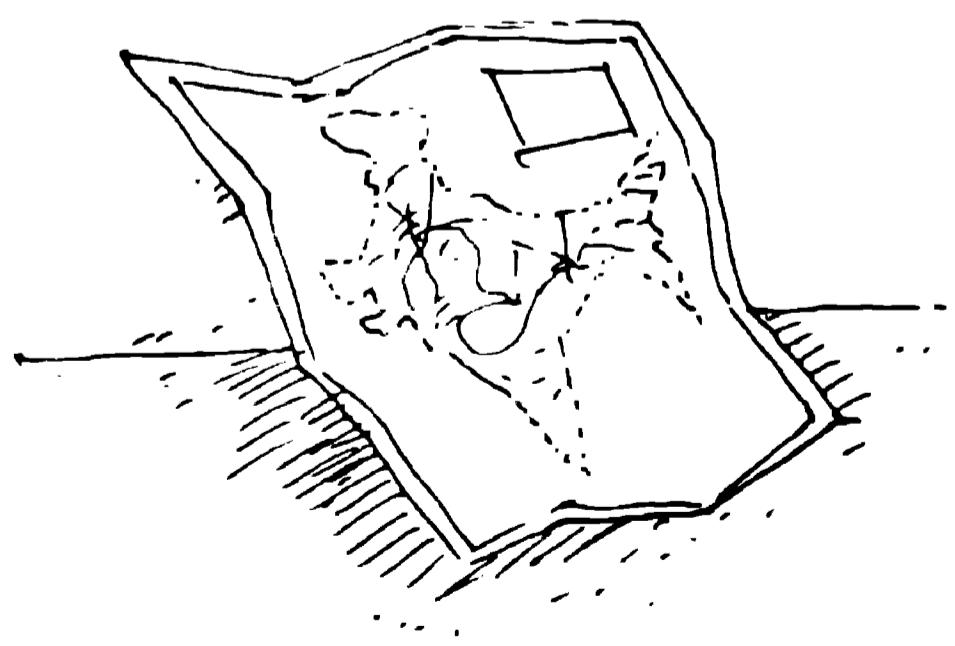
चांदनी रात में बैठक

यदि दलजीत मेरे साथ चलने को तैयार न हुआ होता, तो मैं भी भागने की कोशिश शायद ही करता। स्कूल से अकेले भागने में कोई मजा नहीं। इससे भी खराब बात वह होती है जब तुम्हारे साथ भागने वाला साथी शुरू में तो उत्साह दिखाये, मगर अंतिम क्षण पर साथ छोड़ दे। इससे दूसरा साथी हारा हुआ और टूटा हुआ महसूस करता है।

लेकिन दलजीत ऐसा साथी नहीं था। जो कहता था, उसे करके भी दिखाता था। करीब एक महीना पहले, जब उसे मैंने अपने चाचा के जहाज के बारे में बताया था और उस जहाज पर जाने की अपनी इच्छा प्रकट की थी तो बिना एक क्षण की देरी किए दलजीत ने निस्संकोच भाव से कहा था, "मैं भी चलूंगा, तेरे साथ !"

दलजीत मौजी तबीयत का लड़का था। अकसर गलती भी कर बैठता था। मगर कोई काम कभी अधूरा छोड़, हाथ पर हाथ धर कर बैठना नहीं सीखा था उसने। यदि कोई उसे रोकता नहीं, तो मन में वह जो ठान लेता, उसे करके दिखाता था।

हम दोनों के बीच दोस्ती हुई थी मैराथन दौड़ों के दौरान, जो मानसून के आरंभ में होती थीं। मैं कम दूरी वाली दौड़ों में काफी आगे रहता था, और दलजीत चूंकि भारी-भरकम था, इसलिए दूसरे लड़कों से पिछड़ जाता था। मैराथन में मैं अकसर अच्छे एथलीटों को आगे निकल जाने देता और पीछे किसी घास वाले टीले पर बैठ कर मजे से कोई कॉमिक या 'डेविड कॉपरफील्ड' का कोई अध्याय पढ़ता रहता। एक शाम जब दौड़ के दौरान मैं इस तरह बैठा पढ़ रहा था, तो क्या देखता हूं कि दलजीत सड़क पर चहलकदमी करता और मगन होकर सीटी बजाता चला आ रहा है।

"तू दौड़ में शामिल नहीं हुआ ?" मैंने उससे पूछा।

"हां, हुआ था। तू नहीं हुआ ?"

"हुआ था।" मैं बोला और किताब पढ़ता रहा।

दलजीत आकर मेरी बगल में बैठ गया।

"अगर हम थोड़े लेट भी हो गये, तो उन्हें पता नहीं चलेगा।" वह बोला, "चल, उस स्टाल पर जाकर गर्म-गर्म पकौड़े खाते हैं। पैसों की चिंता मत कर, यार ! मेरे पास काफी ज्यादा रुपए हैं। मां का लाड़ला बेटा हूं न ! खूब पैसे भेजती है। बिगाड़ने में कोई कसर नहीं रखी मेरी मां ने।"

यह हमारी स्थायी मित्रता का श्रीगणेश था। पहले पकौड़ों की नींव पर बनी यह दोस्ती लंबी दूरी की दौड़ों के प्रति हम दोनों की समान अरुचि के कारण जल्दी ही और पक्की हो गयी थी। एक साथ कई मैराथनें दौड़ने के बाद हम यह महसूस करने लगे थे कि हम बरसों से एक-दूसरे से परिचित हैं।

अब व्यायामशाला की अंधियारी ऊंची छत के नीचे बैठे हम अनुभव कर रहे थे कि हम एक-दूसरे को बहुत अच्छी तरह जानते-समझते हैं। मुझे इस बात का कोई मलाल नहीं था कि दलजीत के पास ज्यादा रुपए रहते हैं। उसे भी इस बात की कोई चिंता नहीं थी कि मैं 'कुशाग्र बुद्धि वाला' हूं, जैसा कि वह स्वयं कहा करता था। वह इस बात से बड़ा प्रभावित था कि मैंने ढेरों किताबें पढ़ रखी हैं। लेकिन मैं व्यावहारिक नहीं था और दुनियादारी के हिसाब से दलजीत मुझसे अधिक अनुभवी था।

दलजीत ने कमर में पाजामे में खुंसा एक 'फोल्डर' निकाला और उसे खोल कर आगे फर्श पर फैला दिया। यह भारतीय रेलों का नक्शा था, जो हमने अपनी अंतिम मैराथन के दौरान खरीदा था। उस दौड़ की एक यादगार बात यह थी कि हम दौड़ में से खिसक कर बाजार की तरफ सरक गये थे। वहां तरह-तरह की चीजें खरीदने-खाने के बाद हम छोटे रास्ते से स्कूल लौटे थे और इस तरह दौड़ में क्रमशः प्रथम और द्वितीय आये थे। (हालांकि जब जज लौटे, और बताया कि उन्होंने हमें निर्धारित मार्ग पर कहीं नहीं देखा तो हम अयोग्य ठहरा दिये गये। फिर भी, हमने चाहे कुछ क्षणों के लिए ही सही, यश तो लूट ही लिया था, क्योंकि हरेक ने आकर इस विजय के लिए हमें बधाई दी थी।)

रेलवे का नक्शा हमारे आगे खुला पड़ा था। मैंने लाल पेंसिल ली और नक्शे पर पहाड़गंज के चारों तरफ दायरा बना दिया, जो कि हिमालय की तराई में था। फिर मैंने जामनगर पर भी दायरा बनाया, जो कच्छ की खाड़ी में काठियावाड़ प्रायद्वीप के अंतिम छोर पर स्थित था। इन दोनों स्थानों के बीच क्या था ? पहले,

पहाड़ियां और जंगल थे। फिर दोआब यानी जमुना-गंगा के क्षेत्र का समतल उपजाऊ मैदान था, जो दिल्ली से थोड़ा आगे तक फैला हुआ था। फिर नंगी, वृक्षहीन मटमैली पहाड़ियां और राजस्थान के मरुस्थल के रेत के टीले थे। और अंत में गुजरात और महाराष्ट्र के समुद्र-तट के उपजाऊ क्षेत्र, नदियां और झीलें थीं। हमने यह तय किया कि हम सवारी के सभी उपलब्ध साधनों का उपयोग करेंगे, क्योंकि हमारे पास अधिक समय नहीं था। जिम चाचा का जहाज जरूरत से ज्यादा एक दिन भी बंदरगाह पर रुकने वाला नहीं था। जुलाई के अंत में, मानसून के कष्टदायी बनने से पहले वह अपना लंगर उठा कर चल देगा।

"जितनी जल्दी हो सके, हमें दिल्ली पहुंचना चाहिए," मैंने कहा, "नहीं तो पकड़े जायेंगे। एक बार दिल्ली से निकल गये, तो उन्हें सूझेगा ही नहीं कि हमें कहां ढूंढ़ें। भारत बहुत बड़ा देश है। यहां लापता हो जाना बड़ा आसान है।"

"तू क्या समझता है, ये लोग हमें ढूंढ़ निकालने का झंझट मोल लेंगे ?"

"हां, क्यों नहीं। याद रख, मेरे गार्जियन प्रिंसिपल के दोस्त हैं। और अगर तुझे कुछ हो जाता है, तो तेरे पिता तो स्कूल पर मुकदमा ही दायर कर देंगे। ज्यों ही उन्हें भनक पड़ेगी कि हम गायब हो गये हैं, वे पहले पहाड़गंज में हमारी खोज करेंगे, और जब हम वहां यानी देहरादून में भी नहीं मिलेंगे, तो फौरन पुलिस को खबर करेंगे और हमें 'गुमशुदा' की सूची में शामिल कर लिया जायेगा—अपराधियों की तरह। फिर रेलवे स्टेशनों और बस अड्डों पर कड़ी निगरानी रखी जायेगी।"

"तो क्या इसका मतलब यह हुआ कि हम दिल्ली तक पैदल चलकर जायेंगे ?" दलजीत हताश स्वर बोला, "मैं सवा सौ मील पैदल चल कर नहीं जा सकता।"

"नहीं, ज्यादा से ज्यादा हमें देहरादून तक पैदल चल कर जाना होगा। यानी कि तेरह-चौदह मील की उतराई वाला रास्ता। तू इतना तो चल लेगा ?"

"हां, इतना चल लूंगा। अगर रास्ता उतराई वाला हुआ।"

"देहरादून से हम रेल या बस या ट्रक पकड़ेंगे। रेलवे स्टेशनों से दूर ही रहेंगे।"

"ठीक है, रस्टी ! बहुत बढ़िया खयाल है। मगर अभी से इतनी आगे की मत सोच। पहले दिल्ली पहुंचते हैं। बहुत दूर है यहां से। उसके बाद कोई जुगत भिड़ायेंगे।"

हम खामोश बैठे थे और अपने-अपने विचारों में खो गये थे। चिंता हमें इस बात की थी कि यदि पकड़े गये, तो हमारा क्या हश्र होगा, और फिर हमें

कैसी-कैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। मोमबत्ती की लौ कांपी और बुझ गयी। एक मिनट के लिए घटाटोप अंधेरा छा गया। फिर प्रकाश की एक पतली-सी रेखा फर्श पर से रेंगती हुई मेरे पैरों पर पड़ी।

"मेरी पेंसिल टार्च कैसी लगी ?" दलजीत बोला, "मेड इन जापान है और इसका डिजाइन जेम्स बांड ने तैयार किया है। पिछले साल मैंने नैरोबी में खरीदी थी। मगर बैटरी जाया नहीं करनी चाहिए। इस साइज की यहां मिलती नहीं है।" और यह कहकर उसने बैटरी बंद कर दी।

मैंने कहा, "घरवालों ने तुझे बहुत ज्यादा लाड़-प्यार देकर सिर पर चढ़ा रखा है।"

"हां," दलजीत ने दबी हंसी हंसते हुए कहा, "हां, सचमुच उन्होंने सिर चढ़ा रखा है मुझे।" कहते-कहते उसने अपना हाथ मेरे हाथ में दिया, "तो तय रहा—कल रात को।" वह फुसफुसा कर बोल रहा था, हालांकि ऐसा करने की कोई जरूरत नहीं थी। दलजीत हमेशा चीजों को नाटकीय बनाने में रस लेता था।

"ठीक, कल रात—पक्का रहा।" मैंने कहा।

"कहां मिलेंगे ?"

"नीचे चीड़ के जंगल में। बड़ी चट्टान के पास। दस बजे। वहां से हम नदी के किनारे-किनारे चलते हुए देहरादून जाने वाला छोटा रास्ता पकड़ेंगे।"

"ठीक वक्त पर पहुंच जाना, देर न करना, समझे !" दलजीत बोला, "ऐसा न हो, अंधेरे में—जंगल के बीचों-बीच—मैं खड़ा तेरी राह देखता रहूं। कहते हैं, वहां भूत-प्रेत रहते हैं।"

"ठीक, तेरे पास टार्च तो है ही !" मैंने कहा।

उसने एक बार फिर मेरा हाथ थाम लिया। बोला, "स्कूल में एक-दूसरे से कोई बातचीत नहीं करेंगे। किसी को भनक तक नहीं पड़नी चाहिए। चल, अब चलकर सोते हैं। मुझे नींद आ रही है।"

"जा, आराम से सो !" मैंने कहा, "कल से शायद ज्यादा सोना नसीब न हो।"

हम व्यायामशाला से निकले, तो चांद निकल आया था। खुला मैदान, गुंबद, और डॉरमिटरी की इमारत, ये सब चांदनी में स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। पहाड़ी की ढलान पर देवदार के पेड़ों के साये प्रेतों की तरह लगते थे। आकाश में इक्का-दुक्का बादल छितराये थे। रात बड़ी सुंदर थी।

"कोई देख न ले !" दलजीत बोला।

"अगर कोई तुझे पकड़ भी ले, तो कहना, तूने मुझे नींद में चलते हुए देखा था, और मुझ पर नजर रखने के लिए मेरे पीछे-पीछे आया था।"

"वाह ! लगता है, ये अद्‍भुत विचार तुम्हें किताबों से मिलते हैं।"

हम मैदान में इस तरह चल रहे थे जैसे दो पिशाच चले जा रहे हों। फिर हम जल्दी-जल्दी चलते हुए ऊपर अपनी-अपनी डॉरमिटरी की सीढ़ियों की तरफ लपके।

दलजीत अपनी डॉरमिटरी के दरवाजे पर ठिठका। पीछे मुड़कर उसने भेदभरे ढंग से हाथ हिलाया। मैं भीतर आकर अपने बिस्तर में दुबक गया और सोने की कोशिश करने लगा। मगर नींद जैसे कोसों दूर भाग गयी थी। मैं अपनी आगामी साहसिक यात्रा के बारे में काफी देर तक सोचता रहा और यह कल्पना करता रहा कि सफर किस तरह का होगा और मेरे चाचा जब अचानक हमें अपने जहाज पर देखेंगे, तो कितने चकित होंगे।

निस्संदेह रास्ते का खर्चा निकालने के लिए मैं कोई काम-धंधा तो ढूंढ़ ही लूंगा। हम, दलजीत और मैं, जहाज पर ही सफाई और दूसरे काम करके थोड़ा खर्चा निकाल सकते हैं !

योकोहामा, वालपरायसो, सान डिएगो, लंदन !

ढाबे की चाय

स्कूल से भागना ! हर किसी को यह सलाह नहीं दी जा सकती। मां-बाप और अध्यापक तो इसे बिल्कुल नापसंद करेंगे। लेकिन क्या यह नापसंदगी उनके सच्चे दिल से निकली हुई होगी ? हर किसी ने जीवन में किसी न किसी समय भागने की इच्छा की होगी। यदि किसी ने घटिया स्कूल या मनहूस घर की वजह से नहीं, तो ऐसी ही किसी दूसरी अप्रिय बात के कारण भागना चाहा होगा। लगता है, मनुष्य के जीवन में भागने की एक बड़ी समृद्ध परंपरा रही है। हक फिन भागा था। इसी तरह, कॉपरफील्ड और ऑलिवर ट्विस्ट भी भागे थे। किम भी भागा था। कई साहसी नौजवान भाग कर समुद्र की तरफ गये। अधिकांश महान व्यक्ति अपने जीवन में किसी न किसी समय स्कूल से भागे हैं, और अगर नहीं भागे, तो शायद ऐसा करना चाहिए था।

बहरहाल, दलजीत और मैं स्कूल से भागे, और इसके बारे में हम कोई सफाई देने में अधिक समय नष्ट नहीं करेंगे। हम स्कूल से भागे और इसमें कुछ हद तक सफल भी हुए। लेकिन यह सब हिंदुस्तान में हुआ। हालांकि दुनिया की जितनी धरती है, यह देश मात्र उसका दो प्रतिशत है पर इस दो प्रतिशत भूमि पर दुनिया की पंद्रह प्रतिशत आबादी रहती है। इसीलिए लुक-छिप कर रहने या खो जाने या गायब होने की यह ऐसी सुविधाजनक जगह है कि भागने वाले का कभी अता-पता तक न चले ! यहां तक कि कभी उसकी कोई भनक भी कानों में न पड़े !

ऐसी बात नहीं कि हम गायब ही हो जाना चाहते थे। हम तो एक खास जगह, जिसका नाम था जामनगर, के लिए निकले थे। एक अज्ञात-अपरिचित दिशा में जाने के लिए ज्योंही मैंने पहला कदम उठाया मेरे सामने थी—स्कूल के नीचे की तरफ जाने वाली, चीड़ के कांटों से बिछी पड़ी, फिसलनयुक्त धरती।

तो, मैं यह भली-भांति जानता था कि मैं किसी चीज से नहीं भाग रहा, बल्कि किसी विशेष चीज की तरफ जा रहा हूं। चाहें तो आप इसे सपने का नाम दे सकते हैं। हां, मैं एक सपने की तरफ भाग रहा था।

मेरे पैर नंगे थे और शरीर पर कमीज-पाजामा था। पहाड़ी की खड़ी ढलान से फिसलते हुए मैं उतरा और चौड़ी चट्टान तक आ गया, जो वन के बीचों-बीच खड़ी थी। चीड़ के पेड़ों में हवा धीरे-धीरे बह रही थी। रात सुखद और शीतल थी। नीचे की घाटी से नदी की मंद कलकल ध्वनि सुनाई पड़ रही थी। स्वर ऐसा था जैसे कोई आदमी अपनी धुन में लय-सुर के बिना गुनगुना रहा हो। मानसून के बादलों के झुंड से चंद्रमा प्रकट हुआ और उसकी रोशनी में पेड़, झाड़-झंखाड़ और पत्थर-चट्टानें जगमगा उठीं।

कुछ ही क्षणों में दलजीत भी पहुंच गया। उसने भी कमीज-पाजामा पहन रखा था, मगर उसके सिर पर पगड़ी भी थी। दलजीत को अपनी पगड़ी पर बड़ा गर्व था, जैसा कि सिखों को होता है। पगड़ी को वह या तो रात को या फिर खेल-कूद के समय ही उतारता था और स्कूल से वह नंगे सिर भागने की सपने में भी कल्पना नहीं कर सकता था। सोने से पहले उसने पगड़ी उतार कर सावधानी से अलग रख दी थी और बिस्तर से उठकर ज्यों की त्यों सिर पर रख ली थी—बिल्कुल किसी टोप की तरह—और पगड़ी की एक भी तह हिली या बिगड़ी नहीं थी !

हम अपने व्यायाम वाले कपड़ों के बंडल बना कर अपने साथ ले आये थे। वहां से चलने से पहले हमने उन्हें पहन लिया। बात यह थी कि हम स्कूल की वर्दी में होते, तो कोई भी हमें पहचान लेता। और हमारे घर के कपड़े सत्र के दौरान बक्सों में बंद पड़े थे। हमने जूते भी व्यायाम वाले पहन लिए थे। हमारे झोलों में खाने का सामान भरा था। उन्हीं में पाजामे और एक-दो किताबें भी थीं। हम अपना बाकी ढेर सारा सामान, जैसे कपड़े, बिस्तर और बक्से वगैरह वहीं छोड़ आये थे।

पहाड़ी से एक संकरा रास्ता नीचे को जाता था। हम उसी पर चलते हुए नीचे मैदानी इलाके में आ गये। वहां से यह रास्ता पहाड़ी से नीचे बहकर आने वाली नदी के समानांतर चलता था। हम लगभग एक मील तक बड़ी मुस्तैदी से और चुपचाप नदी के साथ-साथ चलते रहे। आगे एक पगडंडी-सी मिली, जो घोड़े-खच्चरों के चलने के रास्ते से थोड़ी ही चौड़ी थी और अंतिम पहाड़ियों से एकदम नीचे उतर कर घाटी में विलीन हो जाती थी।

रास्ता आसान और सरल था। उससे हम भली-भांति परिचित भी थे। जब

तक हम आखिरी तराई में पहुंचे, बारिश शुरू हो गयी थी। ज्यादा तेज नहीं, बस हल्की-हल्की बूंदाबांदी।

हमने एक गांव के बाहर एक ढाबे में शरण ली। ढाबे वाला अभी सो रहा था, और उसका एक कान वाला खरसैला कुत्ता हमें खदेड़ने नहीं दौड़ा, बल्कि हमारे निकट आकर बड़े दोस्ताना ढंग से हमें सूंघने लगा। वहीं एक पुरानी बेंच पड़ी थी। हम उस पर बैठ गये और दूर पहाड़ों पर सूर्योदय की छटा निहारने लगे।

यह एक ऐसा दृश्य था जो मुझे हमेशा याद रहता है—इसलिए नहीं कि उस दिन का सूर्योदय अधिक सुंदर था, बल्कि इसलिए कि वह सुबह मेरे लिए बहुत महत्वपूर्ण थी और उसने मुझे सभी वस्तुओं को एक नयी दृष्टि से देखने को विवश किया था। उस दिन की एक-एक बात आज भी मेरे मानस-पटल पर

अंकित है।

ज्यों-ज्यों आकाश में प्रकाश फैलता जा रहा था, त्यों-त्यों ऊंचे चीड़ और देवदार के पेड़ स्पष्ट दिखाई देने लगे थे और चारों तरफ पक्षियों का कलरव सुनाई पड़ने लगा था। सबसे पहले कस्तूरा पक्षी हलके, मृदु और स्निग्ध स्वर में बोला। उसके बाद चिलबिलें झाड़ियों में खुसर-पुसर करने लगीं। फिर सनोवर पेड़ की फुनगी पर बैठा बसंता एक रस स्वर में चीखने लगा। जब आकाश थोड़ा और साफ हुआ, तो हरे सुग्गों का एक झुंड पेड़ों के ऊपर से उड़ता हुआ निकल गया।

बहुत हल्की-हल्की बारिश पड़ रही थी—एकदम फुहार की शक्ल में—और पूरब में सूरज की उजास भरी लालिमा फैल रही थी। फिर एकाएक जब बादलों के पीछे से सूर्य झांका, तो बरसात में उगने वाली हरी-भरी घास का सुंदर दृश्य उभर कर प्रकट हुआ। दलजीत और मैं अवाक् से बैठे देख रहे थे। इससे पहले हम कभी इतनी जल्दी नहीं उठे थे। पेड़ों, झाड़ियों और घास पर मकड़ी के सैंकड़ों जाले, जहां उन्हें आमतौर पर कोई देख नहीं पाता था, अब एकदम साफ दिखाई पड़ रहे थे और उन पर सुनहरी और रूपहली बारिश की चमकती बूंदें झिलमिल-झिलमिल कर रही थीं। मकड़ी के जालों के रेशमी तारों पर बारिश की नन्ही-नन्ही बूंदे अटकी थीं और सूरज की आभा में वे नन्हे-नन्हे मोतियों की तरह चमक रही थीं।

पहाड़ी की ढलान पर एक बहुत बड़ा डेलिया खड़ा था, जिसके सिंदूरी फूल भीग कर बोझिल हो गये थे। फूल की एक पंखुरी पर पन्ने जैसे हरे रंग का एक टिड्डा धूप में टांगें पसारे आराम कर रहा था।

तब तक ढाबे वाला उठ गया था। मालिक की उपस्थिति से कुत्ते को जैसे शह मिली और वह हम पर भौंकने लगा। ढाबे वाले ने कच्चा कोयला चूल्हे में झोंका और उसे सुलगा कर पानी की केतली चढ़ा दी।

"कुछ खाओगे ?" ढाबे वाले ने हमसे पूछा।

"नहीं, बस चाय !" मैं बोला।

उसने मेज पर पीतल के दो गिलास लाकर रख दिये।

"अभी दूध तो आया नहीं !" वह बोला, "तुम लोग थोड़ा जल्दी आ गये।"

"हम बिना दूध वाली चाय ही पी लेंगे।" दलजीत बोला, "लेकिन चीनी थोड़ी ज्यादा डालना।"

"आजकल चीनी बड़ी महंगी हो गयी है, भइया ! लेकिन तुम स्कूल के लड़के हो और तुम्हें ज्यादा चीनी चाहिए। ठीक है, जितनी इच्छा हो डाल लेना।"

"ह-ह...हम स्कूल के लड़के नहीं हैं।" मैं झट बोल पड़ा।

''बिल्कुल नहीं !'' दलजीत ने भी कहा।

''हम टूरिस्ट हैं।'' मैंने कहा।

''हमें देहरादून में सुबह की गाड़ी पकड़नी है।'' दलजीत ने कहा।

''दस बजे से पहले कोई गाड़ी नहीं जाती।'' ढाबे वाला कुछ चकराकर बोला।

''हम दस बजे की गाड़ी ही पकड़ेंगे।'' दलजीत फुर्ती से बोला, ''हम नीचे वक्त पर पहुंच जायेंगे न ?''

''क्यों नहीं, काफी वक्त है...''

ढाबे वाले ने गर्मागर्म चाय गिलासों में डाली और चीनी वाला बर्तन हमारे आगे रख दिया।

''पहले तो मैं यही समझा था कि तुम स्कूली लड़के हो।'' ढाबे वाला हंसते हुए कह रहा था, ''सोचा, भाग कर जा रहे हो।''

मैंने देखा, दलजीत तनिक खिसियाया-सा खीसें निपोर रहा था।

''भैया, तुमने ऐसा क्यों सोच लिया ?'' उसने पूछा।

''कई बरसों से यहां रहता हूं।'' यह कहते हुए उसने एक तरफ इशारा किया, जहां वृक्षहीन भूमि पर लकड़ी का खोखा खड़ा था। ऐसा लगता था, जैसे जंगली प्रदेश में कोई व्यापारिक चौकी हो, ''स्कूल के लड़के भागते हैं, तो हनेशा इधर से गुजरते हैं।''

''क्या बहुत लड़के भागते हैं ?'' मैंने पूछा।

''ज्यादा नहीं, जी ! साल में दो-तीन, बस। बहुत हुआ, तो देहरादून में रेलवे स्टेशन तक ही पहुंच पाते हैं और फिर पकड़ लिए जाते हैं।''

दलजीत बोला, ''अपनी ही बेवकूफी से पकड़े जाते होंगे।''

''क्या वे हमेशा पकड़ लिए जाते हैं ?'' मैंने पूछा।

''हां, जी। हमेशा ! नीचे जाते हुए यहां से गुजरते हैं, तो मैं उन्हें चाय का गिलास देता हूं। और जब टीचरों के साथ लौटते हैं, तो भी उन्हें चाय का गिलास देता हूं।''

''खैर, तुम्हें हमारा दर्शन-लाभ अब फिर नहीं होगा !'' दलजीत बोला। मैं उसे खबरदार करने के लिए इशारा कर रहा था, मगर उसने इधर ध्यान ही नहीं दिया और उसके मुंह से यह बात निकल गयी।

''लेकिन तुम तो स्कूल के लड़के नहीं हो !'' ढाबे वाला हंसते हुए हमारी तरफ देख रहा था, ''फिर तुम लोग भाग कर भी तो नहीं जा रहे।''

चाय के दाम चुका कर हम नीचे जाने वाले रास्ते पर भागे। तोते एक

बार फिर टैं-टैं करते हुए ऊपर से उड़ते हुए निकले औरं जाकर लीची के पेड़ पर बैठ गये। धूप थोड़ी तेज हो आयी थी और ज्यों-ज्यों ऊंचाई घटती जा रही थी, गर्मी और चिपचिपाहट बढ़ती जा रही थी और यहीं से हमें आगे मैदानी इलाके में पड़ने वाली गर्मी का अहसास होने लगा था।

पहाड़ियों का स्थान अब समतल मैदानों ने लेना शुरू कर दिया था, जहां जगह-जगह खेत-खलिहान दिखाई पड़ते थे। धान की रोपाई हो चुकी थी और ईख के पौधे कमर-कमर तक ऊंचे उठ आये थे।

रास्ते में जमीन जगह-जगह दलदली हो गयी थी। हमने अपने जूते उतार कर अखबार में लपेटे और नंगे पैर कीचड़ में चलने लगे।

मैंने कहा, ''देहरादून करीब तीन मील दूर है यहां से। शहर का चक्कर काट कर जायेंगे। अब तक स्कूल में सभी उठ गये होंगे और उन्हें पता चल गया होगा कि हम उड़नछू हो गये हैं।''

''हमें स्टेशन से दूर ही रहना चाहिए।'' दलजीत बोला।

''अगला स्टेशन रायवाला है। वहां तक पैदल जायेंगे,'' मैंने कहा. ''फिर वहां से जो ट्रेन मिलेगी, उसी पर सवार हो जायेंगे।''

''कितनी दूर चलकर जाना होगा ?''

''करीब दस मील।''

''दस मील !'' दलजीत एकदम निराश होकर बोला, ''चलते-चलते पूरा दिन बीत जायेगा।''

''जो हो, हम यहां रुक नहीं सकते, समझे ! देहरादून में मटरगश्ती भी नहीं कर सकते। और स्टेशन पर भी नहीं जा सकते। हमें चलते रहना होगा, कहीं रुकना नहीं होगा।''

''ठीक है, रस्टी ! हम चलते जायेंगे। जानता हूं, किसी भी एडवेंचर की शुरुआत हमेशा कठिन होती है।''

बाघ और बैलगाड़ी

खेत-खलिहानों के बाद जंगल शुरू हो गया था। तथापि, रेलवे लाइन के साथ-साथ ईख के कुछ खेत दिखाई पड़ते थे।

"अभी कितनी दूर जाना है ?" दलजीत बोल, "रायवाला क्या जंगल के बीचों-बीच है ?"

"हां, जंगल में ही होगा। हम लगभग चार मील तय कर आये हैं। छह मील अभी और चलना है। अजीब बात है, कुछ मील दूसरे मीलों से लंबे क्यों लगने लगते हैं ! मेरे खयाल में, यह शायद मन की दशा पर निर्भर करता है। यदि मन में मजेदार बिचार हों, तो मीलों का सफर इतना लंबा नहीं लगता।"

"तो ठीक है, हम मन में अच्छे मजेदार विचार लेकर चलते हैं। यह कोई छोटा रास्ता नहीं है, रस्टी ? तू तो इन जंगलों में पहले भी आ चुका है।"

"हम जंगल में 'फायर पाथ' (यानी 'अग्नि-पथ') से होकर जायेंगे। इससे तीन-चार मील की बचत हो जायेगी। लेकिन एक छोटी नदी को तैर कर या पानी में चल कर पार करना पड़ेगा। बरसात अभी शुरू ही हुई है, सो पानी ज्यादा तेज या गहरा नहीं होना चाहिए।"

घने जंगलों में, बीच-बीच में कुछ रास्ते बना दिये जाते हैं, ताकि जंगल में कभी आग लग जाय, तो वह ज्यादा न फैले। इसीलिए इन्हें 'फायर पाथ' ('अग्नि-पथ') कहते हैं। ऐसे रास्तों पर लोग तो ज्यादा नहीं चलते, क्योंकि ये रास्ते किसी निश्चित जगह तक नहीं जाते, लेकिन बड़े जानवर लगातार इन रास्तों पर आते-जाते रहते हैं।

ऐसे ही एक रास्ते पर हम अभी मील-भर ही गये थे कि तेज बहते पानी की आवाज कानों में पड़ी। रास्ता साल के वृक्षों में से होता हुआ नदी के तट पर जाता था। नदी पर एक बड़ा-सा पुल भी दिखाई पड़ता था, मगर वह करीब

तीन मील नीचे मुख्य सड़क पर था।

"यहां पानी कहीं भी कमर से ऊपर नहीं है," मैंने कहा, "लेकिन रफ्तार तेज है और पत्थरों पर फिसलन भी है।"

हमने कपड़े उतारे और सब चीजों की दो पोटलियां बनायीं और उन्हें सिर पर रख कर नदी में उतर गये। दलजीत हृष्ट-पुष्ट था। उसकी बांहें और जांघें बलिष्ठ थीं। मैं उससे दुबला-पतला और हल्का-फुल्का था, किंतु था फुर्तीला।

पैरों के नीचे के पत्थर फिसलन भरे थे। हम किसी तरह गिरते-पड़ते पानी में चल रहे थे। नतीजा यह हुआ कि एक-दूसरे की मदद करने के बजाय हम रुकावट ही डाल रहे थे। हम धारा के बीचों-बीच कमर-कमर तक पानी में खड़े थे और आगे जाने में हिचकिचा रहे थे। डर लगता था कि पानी में बह न जायें।

"मुझसे खड़ा नहीं हुआ जा रहा !" दलजीत बोला।

"आगे पानी ज्यादा गहरा नहीं होगा।" मैंने आशा की डोर संभाले रखी। लेकिन पानी का बहाव तेज था और मेरे घुटने कांप रहे थे।

दलजीत ने पांव आगे बढ़ाने चाहे, मगर वह एकदम फिसला और पानी में पीछे की तरफ गिरा और अपने साथ मुझे भी लेता गया। वह हाथ-पैर मार रहा था, मगर अंत में उसने मेरा सहारा लिया और व्हेल मछली की तरह मुंह से पानी के फव्वारे छोड़ते हुए ऊपर आया।

हमने जब देखा कि पानी हमें बहा कर नहीं ले जा रहा, तो हाथ-पैर मारना छोड़ हम खड़े हो गये और बड़ी सावधानी से डग भरते हुए सामने वाले किनारे की तरफ लपके। लेकिन तब तक हम नदी में करीब बीस गज नीचे बह आये थे।

किनारे की गर्म रेत पर आकर हम बैठ गये। ऊपर से तेज धूप की मार पड़ रही थी। दलजीत के हाथ में चोट लगी थी और वह उसे चूस रहा था। मगर जल्दी ही हम उठ कर खड़े हो गये। भूख भी लग आयी थी। हमने बिस्कुट वगैरह निकाले और खाते हुए चल पड़े।

"अब अधिक दूर नहीं जाना है।" मैंने कहा।

"मैं इसके बारे में सोचना नहीं चाहता।" दलजीत बोला।

हम जंगल के रास्ते पर पैर घिसटते हुए जा रहे थे। थके जरूर थे, मगर हौसला नहीं हारे थे। थोड़ी देर बाद हमने एक मोड़ का चक्कर काटा।

एकाएक हम बाघ के आमने-सामने थे।

बेशक एकदम आमना-सामना तो नहीं। बाघ हमसे करीब पंद्रह गज के फासले पर रास्ते के बीचों-बीच खड़ा था। ऐसा लगता था, बाघ भी हमें वहां

देख कर उतना ही हैरान हुआ था जितने कि हम उसे देखकर चकित हुए थे। उसने खड़े-खड़े ही बड़ा-सा सिर उठा कर ऊपर देखा और लंबी पूंछ दाएं-बाएं हिलायी। मगर हमारी तरफ आने की कोई चेष्टा नहीं की। रास्ते के बीचों-बीच हम दम साधे खड़े थे। हम इतने भयभीत और विस्मित थे कि हमें कुछ सूझ नहीं रहा था। और यह ठीक ही हुआ, क्योंकि हम यदि दौड़ पड़ते या चिल्लाते, तो हो सकता था, बाघ उत्तेजित होकर हमला ही कर देता। मगर यह बाघ मनुष्य से भय नहीं खाता था, और न ही नरभक्षी था। वह हौले-से बस गुर्राया भर, और क्षण-भर की हिचकिचाहट के बाद डग भरते हुए जंगल में अदृश्य हो गया।

तब कहीं जाकर हमारी जान में जान आयी। दलजीत भर्राए स्वर में फुसफुसा उठा, "तूने बताया ही नहीं, इधर बाघ भी होते हैं !"

"ध्यान ही नहीं आया।" मैं बोला, और यह सच भी था, "इधर अधिक बाघ नहीं होते..."

"एक ही काफी है," दलजीत बोला, "पीछे लौट चलें या आगे बढ़ें ?"

"आगे, नदी में फिर हाथ-पैर मारने की मंशा नहीं है तो। बाघ की कोई दिलचस्पी नहीं है हम लोगों में।"

"तो फिर आगे बढ़।" दलजीत बोला, और हम आगे अग्नि-पथ पर चल पड़े। इसके बाद कोई जानवर नहीं मिला। हां, कुछ सुंदर मोर अवश्य दिखाई पड़े, जो हमें देखते ही उड़ गये।

जल्दी ही हम फिर मुख्य सड़क पर आ गये। दोनों तरफ खेत-खलिहान और गांव थे। पहाड़ियों की तरफ से आने वाली शीतल हवा बह रही थी। हवा छेड़ती, तो खेतों में खड़ी ईख हौले-हौले हिलोरें लेने लगती थी। फिर सड़क पर तेज हवा के कारण हमारे चारों तरफ धूल के गुबार उड़ रहे थे। तभी पीछे उड़ती धूल में बैलगाड़ी के पहियों की खटर-पटर सुनाई पड़ी।

"हो ! हिया, हिया !" गाड़ीवान जोर-जोर से बोलता आ रहा था। बैल नथुनों से हवा छोड़ते हुए धूल के गुबार में से प्रकट हुए। हम सड़क के एक तरफ खड़े हो गये।

"रायवाला जा रहे हो ?" दलजीत ने गाड़ीवान से पूछा, "हमें ले चलोगे ?"

"आ जाओ।" गाड़ीवान बोला, और हम धूल में पैर रपटते हुए भागे और चलती बैलगाड़ी के पीछे चढ़ गये।

बैलगाड़ी लड़खड़ाती-खड़खड़ाती और हिचकोले खाती हुई जा रही थी। हमने दोनों तरफ से गाड़ी को कस कर पकड़ रखा था, ताकि गिर न पड़ें। बैलगाड़ी में से घास, पुदीने और उपलों की गंध आ रही थी। गाड़ीवान के सिर पर लाल

कपड़ा बंधा था और शरीर पर चुस्त बंडी और धोती थी। वह बीड़ी पी रहा था और बैलों को जोर-जोर से हांकता जा रहा था। ऐसा प्रतीत होता था, वह हमारी उपस्थिति से एकदम बेखबर हो गया था। हम बैलगाड़ी के साथ इस तरह चिपटे थे कि बातचीत करने की सूझ ही नहीं रही थी। जल्दी ही हम रायवाला के भीड़-भाड़ वाले यातायात में घिर गये। रायवाला था तो छोटा-सा कस्बा, मगर मंडी बहुत बड़ी थी। हम बैलगाड़ी से कूदे और उसके साथ-साथ चलने लगे।

"इसे कुछ पैसे दें ?" मैंने पूछा।

"नहीं, बुरा मान जायेगा। यह कोई टैक्सी-ड्राइवर नहीं है।"

"तो ठीक है, सिर्फ धन्यवाद ही देते हैं।"

हमने ऊंचे स्वर में गाड़ीवान का धन्यवाद किया, मगर उसने मुड़ कर देखा तक नहीं। लगता था, वह अपने बैलों से बातें करता जा रहा था।

"मुझे भूख लगी है," दलजीत बोला, "रात से हमने ढंग का खाना नहीं खाया।"

"तो कहीं बैठकर खाते हैं।" मैं बोला, "चल।"

रायवाला के छोटे-से बाजार में से गुजरते हुए हम चाय और मिठाई की दुकानें देखते जा रहे थे। एक जगह हमने सस्ता-सा ढाबा ढूंढ़ लिया। एक मुंडु हमारे आगे दाल-चावल रख गया। दलजीत ने घी मंगवाया और दाल में डाला। इस भोजन की कीमत दो रुपये थी, मगर दाल हम चाहे जितनी ले सकते थे, इसलिए दोनों मिलकर चार प्लेट दाल खा गये।

"अब स्टेशन पर चल कर सुस्ताते हैं," ढाबे से निकलते हुए मैंने कहा, "खरीदेंगे सेकेंड क्लास के टिकट और आराम करेंगे फर्स्ट क्लास के वेटिंग रूम में। कोई चैक करने नहीं आयेगा। हम फर्स्ट क्लास वाले नहीं लगते, क्यों ?"

"जंगल में मारे-मारे फिरने के बाद इस हालत में तो नहीं।" दलजीत बोला।

हम स्टेशन पहुंचे और सबसे बढ़िया वेटिंग रूम में जम गये। दलजीत चैन से आरामकुर्सी में धंस गया।

"रेलगाड़ी आये, तो मुझे जगा देना।" वह अलसाये स्वर में बोला।

हमें ज्यादा देर प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। मैं दरवाजे के साथ टिककर खड़ा सामने रेल पटरियों की तरफ देख रहा था कि आती हुई रेलगाड़ी की सीटी कानों में पड़ी। रेलगाड़ी धीरे-धीरे प्लेटफार्म पर आयी। फुंफकारता हुआ भीमकाय इंजिन तेज भाप छोड़ रहा था। प्लेटफार्म पर भारी रेलपेल मच गयी। रेलगाड़ी के आते ही लोग दौड़ने-भागने लगे थे। इसके साथ ही डिब्बों के दरवाजे खुले और यात्री उतरने लगे।

दलजीत को जगाने के लिए मैंने झकझोरा और हम दौड़ कर प्लेटफार्म पर आये और रेलपेल में शामिल हो गये। औरतें, मर्द, बच्चे, सब धींगामुश्ती कर रहे थे। कुछ देर तक न तो कोई डिब्बों में घुस पा रहा था और न कोई भीतर से उतर पा रहा था। लोगों के सिरों के ऊपर से गठरियां-पोटलियां खिड़कियों में से भीतर धकेली जा रही थीं। कई नौजवान खिड़कियों के रास्ते ही भीतर घुसने का जतन कर रहे थे और सिर अंदर करने के बाद पीछे से कोई उन्हें धकेल रहा था। अपनी-अपनी पोटली को सीने से लगाए हम दोनों इस रेलपेल में फंस गये थे और इसी धक्कमपेल में डिब्बे के भीतर पहुंच गये।

जब तक हम एक कोने वाली सीट पर जाकर बैठते, रेलगाड़ी चल पड़ी थी। एक-दो लोग अब भी दरवाजों और खिड़कियों में लटक रहे थे और मौका मिलते ही भीतर सरक आये थे।

मैं खिड़की के निकट बैठा था। जब रेलगाड़ी ने रफ्तार पकड़ी और तेजी से पीछे छूटते आम के बगीचे, गांव और तार के खंभे आपस में गड्डमड्ड होने लगे, तब कहीं जाकर मैंने महसूस किया कि अब हम सचमुच अपने गंतव्य की ओर चल पड़े हैं—किसी रहस्यपूर्ण और अज्ञात स्थान की ओर। मैंने जोश में आकर दलजीत की बांह पकड़ ली।

"हम अपने गंतव्य की ओर जा रहे हैं।" मैंने कहा।

"यह तो जाहिर है।" दलजीत ने यह कहते हुए अपना झोला एक मोटे मुसाफिर के नीचे से खींच कर निकालना चाहा, जो इस सारी मारामारी ौर रेलपेल में उसके ऊपर पसर कर सो गया था।

लेकिन दलजीत मेरा आशय समझ गया था। अपना झोला उठाने के बाद वह मेरी तरफ देख धीरे से मुस्कुराया और उत्तेजना से उसकी आंखें चमक उठीं।

बाल-बाल बचे

पुरानी दिल्ली रेलवे स्टेशन पर हम इस तरह रेलगाड़ी से उतरे जैसे शरीफ लोग उतरते हैं और फिर बड़ी ठसक के साथ बाहर निकलने वाले गेट की तरफ चले। हम यह सोच-सोच कर प्रसन्न थे कि अब टिकट-कलेक्टर को अपने टिकट थमा कर हम बाहर निकल जायेंगे। भीड़ का कोई अंत नहीं था और लोग बहुत धीरे-धीरे चल रहे थे। यह अच्छा ही हुआ, क्योंकि हम गेट से करीब तीस फुट के फासले पर ही थे कि एकाएक मेरी नजर गणित के अध्यापक मिस्टर जैन पर पड़ी, जो टिकट कलेक्टर के पास खड़े बात कर रहे थे।

अरुंडेल में जितने भी अध्यापक थे, मिस्टर जैन उनमें सबसे योग्य थे। और यह स्पष्ट था कि उन्हें हमारे लिए ही भेजा गया था। मिस्टर जैन एकदम गोल-मटोल थे, और ऐनक भी लगाते थे। मगर थे बड़े चतुर, और जानते थे कि हमें कहां पकड़ा जा सकता है। इसलिए हमारी कुशलता इसी में थी कि हम गेट की तरफ न जाकर दूसरी तरफ भागते।

"यहां से भाग चल," दलजीत को पकड़ते हुए मैं जोर से फुसफुसाया।

"क्यों ?" दलजीत ने पूछा। उसने मिस्टर जैन को नहीं देखा था।

"देख नहीं रहा ?" मैंने कहा, "टिकट कलेक्टर के पास कौन खड़ा है ?"

वहां से भागने की हड़बड़ी में दलजीत ठोकर खाकर गिरते-गिरते संभला। भीड़ गेट की तरफ धकिया रही थी और हम आने वाली भीड़ की दीवार को चीर कर रफूचक्कर होना चाहते थे। मगर रास्ता मिल नहीं रहा था। तभी मिस्टर जैन ने हमें देख लिया और उनकी चिल्लाहट हमारे कानों में पड़ी।

"लड़को, इधर आओ ! रस्टी ! दलजीत !"

अपने अध्यापक का यह परिचित स्वर सुनते ही मैं एकबारगी उनकी आज्ञा का पालन करने को उद्यत हुआ। मगर अगले ही क्षण मेरी आंखों के सामने
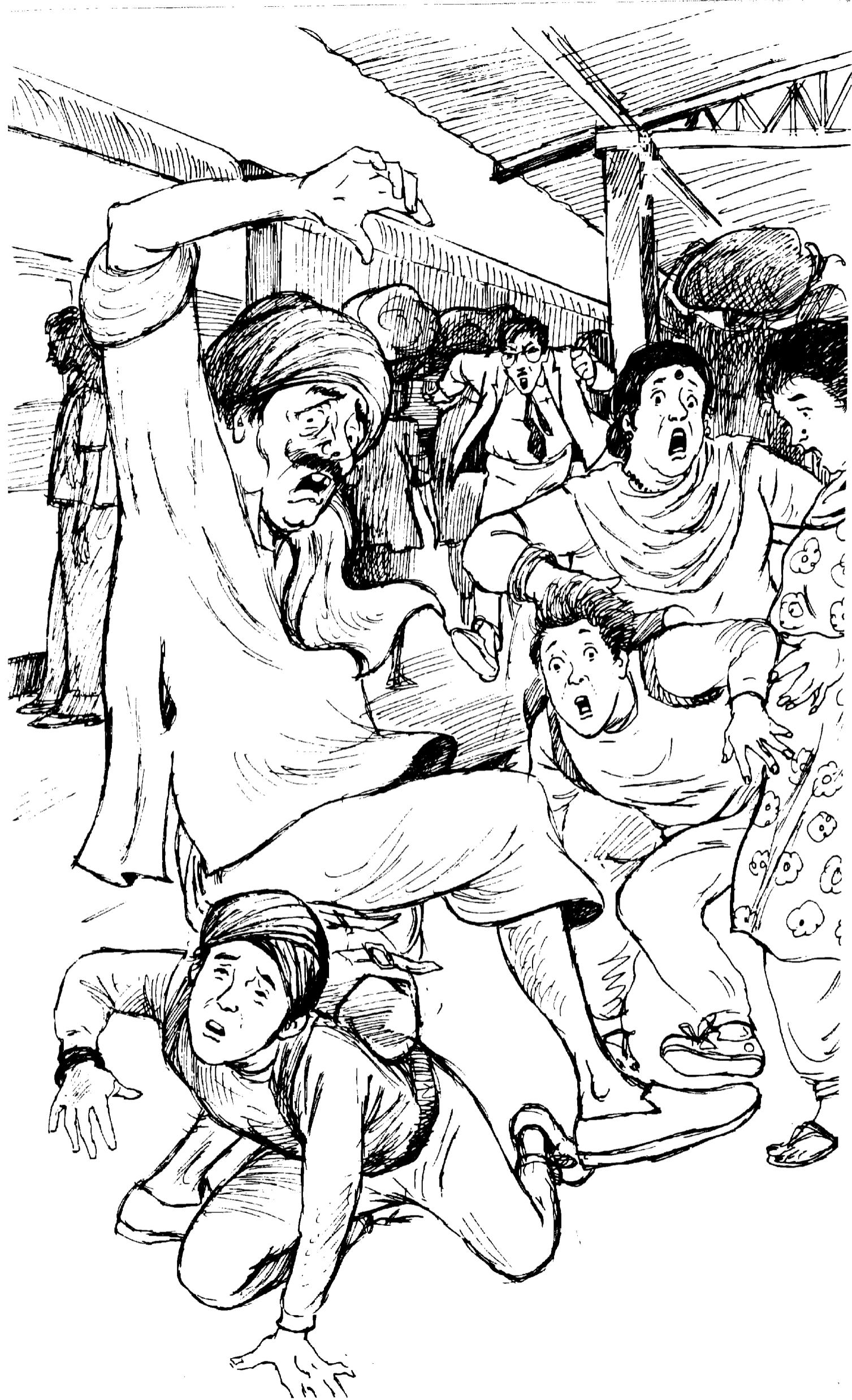
क्लासरूम, डॉरमिटरी और प्रिंसिपल का चूहे की सी मूंछों वाला मनहूस चेहरा तैर गया, जिनसे मुझे सख्त नफरत थी। बस, मैंने वहां से सिर पर पैर रखकर भागने का फैसला किया। मैं चाहता था कि मैं दौड़ता जाऊं, दौड़ता जाऊं और तब तक दौड़ता जाऊं जब तक कि मैं समुद्र और अपने चाचा के जहाज तक नहीं पहुंच जाता।

दलजीत ने तो एक क्षण के लिए भी आगा-पीछा नहीं देखा। एकदम भागा और एक लंबे-तड़ंगे जाट किसान की टांगों में से निकल गया। उसकी पगड़ी गिरते-गिरते बची। मैंने भी सामने से आ रही दो मोटी पंजाबी औरतों के बीच से निकल कर भागने की कोशिश की। मगर मैं अभी उनके बीच से निकल भी नहीं पाया था कि दोनों स्त्रियां एक-दूसरे से सट गयीं और हमारी टांगें-बांहें उलझ गयीं। मिस्टर जैन एकदम मेरे पीछे थे। और तभी एक कुली, जो प्लेटफार्म पर खड़ी रेलगाड़ी के डिब्बे की तरफ लपका जा रहा था, मिस्टर जैन से टकरा गया।

मिस्टर जैन लुढ़के और उनकी ऐनक गिर पड़ी। मैं भी किसी तरह उन स्त्रियों से अपने आपको छुड़ाकर दलजीत के पीछे भागा। दलजीत काफी आगे निकल गया था और भीड़ में रास्ता बनाने के लिए धक्कामुक्की करता जा रहा था।

एक बार वह ठिठका, यह देखने के लिए कि मैं कहीं पकड़ में तो नहीं आ गया, और फिर चिल्लाया, "आ जा, रस्टी ! रेल-पटरी के उस पार !"

फिर वह प्लेटफार्म से कूदकर एक खड़ी रेलगाड़ी के दो डिब्बों के बीच से निकल गया। मैं न चाहते हुए भी उसके पीछे भागा। रेल-पटरियां पार करने के बारे में हमेशा मेरे मन में एक अंधविश्वास, एक डर-सा समाया रहता है और रात को अकसर सपना देखता हूं कि मैं रेल-पटरी पर असहाय, बेबस पड़ा हूं (हालांकि मुझे किसी ने बांध कर नहीं रखा होता) और भाप वाला रेल का इंजिन गरजता-दहाड़ता हुआ मेरी तरफ चला आ रहा है। हमेशा इंजिन जब मुझसे करीब तीन फुट के फासले पर रह जाता, तो मेरी नींद खुल जाती थी। कभी-कभी अचरज करता हूं कि अंतिम क्षणों में मेरी नींद न खुल गयी होती, तो जाने क्या हो जाता !

दलजीत तब तक कूदता-फांदता हुआ दो रेल-पटरियों को पार कर गया था और दूसरी तरफ रेलिंग पर चढ़ रहा था। मैंने पहले बाएं, फिर दाएं और एक बार फिर बाएं देखा। परे एक शंटिंग इंजिन आ रहा था, और इतना समय था कि मैं भाग कर रेल-पटरी पार करके दलजीत तक पहुंच जाऊं। मगर मैं नाहक भयभीत था। मेरे माथे और हथेलियों से पसीना छूटने लगा था।

"आ जा !" दलजीत हड़बड़ी में बोला।

मैंने गहरा निःश्वास छोड़ा, और नाक की सीध में देखते हुए लपक कर पटरियों को पार करने लगा। मैं इतना घबरा गया था कि एकाएक ठोकर खाकर पटरियों पर गिर गया। मुझे चक्कर आ गया था और लगता था कि भूचाल से धरती कांप रही है। कहीं ऐसा तो नहीं कि मेरा सपना आखिर सच होने जा रहा है ? उस वक्त भी मेरे कानों में फुफकारते-धड़धड़ाते इंजिन की आवाज गूंज रही थी।

"आ जा, रस्ती ! उठ खड़ा हो !" दलजीत की आवाज मेरे कानों में पड़ी। फिर एकाएक उसे अपने निकट देख मैं हड़बड़ाया, क्योंकि वह मेरी बांह पकड़ कर खींच रहा था।

उसकी उपस्थिति से मेरा हौंसला बढ़ा। मैं उछल कर खड़ा हो गया, झपट कर अपना झोला उठाया और उसके साथ किनारे की तरफ भागा। आगे रास्ते में नालीदार टीन की चादरों की बाड़ खड़ी थी। उस करीब दस फुट ऊंची दीवार पर कहीं भी पांव जमा कर चढ़ने की जगह नहीं थी। सो, हम बाड़ के साथ-साथ दौड़ते चले गये। थोड़ा आगे एक छेद-सा था, जिसके उस पार मालगाड़ियों का यार्ड था।

वहीं एक चरखी-द्वार लांघ कर हम भागे और एक संकरी गली में जा पहुंचे। वहां से लगातार दौड़ते हुए हम तंग गलियों-बाजारों को पार करते गये, जिनमें छोटी-छोटी मस्जिदें, मंदिर, स्कूल और दुकानें एक-दूसरे के अगल-बगल खड़ी थीं। भागते-भागते हम एक खुले रास्ते पर जा निकले, जहां बेतहाशा भीड़ थी और आती-जाती मोटरगाड़ियों, इक्के-तांगों की चिल्ल-पों मची हुई थी।

यह जगह चांदनी चौक थी, जो दिल्ली के इतिहास प्रसिद्ध सुनारों-जौहरियों के बाजार के रूप में जानी जाती है।

चांदनी चौक में पड़ाव

चांदनी चौक में खरीदारों, फेरीवालों, मुंशियों, छोकरों, साधुओं, जौहरियों, नाइयों और जेबकतरों की भीड़ के बीच हम अपने आपको काफी सुरक्षित महसूस कर रहे थे। नगर के बीचों-बीच कोई आदमी बड़ी आसानी से लुप्त हो सकता है। भगोड़े अकसर गांवों में जाकर छिपने की गलती करते हैं, जहां अजनबी होने के कारण जल्दी ही नजर में आ जाते हैं। यह मात्र संयोग ही था कि हम दिल्ली में सबसे सुरक्षित स्थान पर पहुंच गये थे।

यहां तांगों, बैलगाड़ियों, साइकिलों, रिक्शों और नयी व पुरानी-प्राचीन कारों में एक-दूसरे से आगे निकल जाने की होड़ लगी थी। जिस वाहन के पास हार्न था, वह उसे बजाने से चूकता नहीं था। और जिस पर घंटी लगी थी, वह उसे बजाने से बाज नहीं आता था। जिस किसी के पास कुछ नहीं था, वह अपने गले का ही प्रयोग कर रहा था।

हम एक मिठाई की दुकान पर गये। दलजीत ने छककर गुलाब जामुन खाये। मैंने थोड़ी-सी सुनहरी जलेबी खायी।

तभी एकाएक पानी बरसने लगा। हमने दौड़ कर एक बरामदे में शरण ली। जब वर्षा ने वेग पकड़ा, तो लोग भागते दिखाई पड़े। देखते ही देखते सारी भीड़ छंट गयी। एक-दो कारें तेज बहते पानी से निकलती हुई गुजर गयीं। आवारा गायें कूड़े-कचरे के ढेरों में मुंह मार रही थीं।

फिर कुछ कम उम्र छोकरों का एक झुंड कूदता-फांदता हुआ आया। सड़क बाढ़ आई नदी जैसी लगती थी। छोकरे जब बारिश के पानी से भरी नाली के निकट पहुंचे, तो उसी में कूद पड़े और धमाचौकड़ी मचाते हुए हो-हल्ला करने लगे। गेंदे के फूलों का एक हार सड़क के बीचों-बीच बहता हुआ निकल गया।

और फिर बारिश एकाएक थम गयी। सूरज निकल आया। एक कागज

की नाव तैरती हुई मेरी टांगों के बीच से निकल गयी।

"अब कहां चलें ?" दलजीत बोला, "स्टेशन तो सुरक्षित जगह नहीं है।"

"किसी दूसरे रास्ते से दिल्ली से निकलना होगा। अभी तो रात काटने के लिए कोई सस्ता-सा होटल ढूंढ़ते हैं।"

"अरे, हां। मेरे पास अभी तीस से ज्यादा रुपए हैं।" दलजीत बोला।

"मेरे दस रुपये मिलाकर भी तो दोनों के लिए काफी नहीं होंगे। और यदि टिकट ख़रीदने पड़े, तब तो बिल्कुल ही नहीं होंगे।"

"हम टिकट खरीदेंगे ही नहीं।" दलजीत बोला।

होटल ढूंढ़ने में हमें अधिक समय नहीं लगा। होटल का नाम था 'ग्रेट ओरिएंटल होटल', जो ऐन पुलिस स्टेशन के पीछे था। उसकी हालत ऐसी थी कि उसे तीसरे दर्जे का होटल मानने में भी संकोच हो ! पांच रुपये में हमें पिछवाड़े वाला एक कमरा मिल गया। उसकी खिड़की मिर्च-मसालों के किसी अफगानी व्यापारी के गोदाम में खुलती थी और नीचे दालान में से हींग की जबरदस्त गंध आ रही थी।

हम थक कर चूर हो चुके थे। ऊपर से बला की गर्मी ! अतः सामान हमने फर्श पर डाला और बारी-बारी से गुसलखाने की टोंटी के नीचे बैठकर खूब नहाये। खाट एक ही थी। उसी पर हम पसर गये और दोपहर बाद तक इस तरह घोड़े बेचकर सोये कि न हमें बाजार के हल्ले-गुल्ले ने परेशान किया, न होटल के गद्दे के खटमलों और मच्छरों का काटना महसूस हुआ और न छत के पंखे की क्रीं-क्रीं ने हमारी नींद में खलल डाला।

जब नींद खुली, तो शाम हो चुकी थी। हमें फिर भूख लग आयी थी। दलजीत ने दरवाजा खोला और चिल्ला कर आवाज लगायी। एक नौकर दौड़ा आया।

"हमारे लिए चाय, टोस्ट, दो बड़े-बड़े आमलेट, और चटनी की बोतल लेकर आ, जल्दी !" दलजीत ने आर्डर दिया।

बीस मिनट बाद जो आमलेट आये, वे बहुत छोटे-छोटे थे। स्पष्ट था, एक ही अंडे के दो आमलेट बनाये गये थे। सॉस में पानी डाल कर उसे पतला कर लिया गया था। टोस्ट जले हुए थे। नमक गीला था, जिसे नमकदानी खोल कर ही निकालना पड़ा। हां, काली मिर्च वाली शीशी एकदम उलट गयी और हमारे भोजन का एक बड़ा हिस्सा बनी। चूंकि अभी हमारा पेट नहीं भरा था, इसलिए हमने दुबारा अंडों का आर्डर दिया। मगर इस बार हमने उबले अंडे मंगवाये। सोचा कि चाहे कितने ही छोटे क्यों न हों, होंगे तो पूरे ही न !

"चल, बाहर चलते हैं," दलजीत बोला। "यहां बड़ी घुटन है।"

"मुझे नींद आ रही है," मैंने कहा।

"तो मैं थोड़ी देर के लिए बाहर चक्कर लगा आता हूं। गुरुद्वारे भी जाऊं शायद।"

"ठीक है, मगर कहीं खो मत जाना।"

दलजीत बाहर निकल गया और मैंने खाट पर बैठ कर रवींद्रनाथ ठाकुर की किताब 'द गार्डनर' खोल ली। मगर ज्यादा देर पढ़ नहीं पाया, क्योंकि ज्यों-ज्यों सांझ ढलती जा रही थी, छोटे-छोटे कीट-पतंगे, हर साल की गर्मियों की तरह, रात की थोड़ी शीतलता का लाभ उठाने के लिए बाहर निकल कर मंडराने लगे थे।

फिर गर्मी के कारण दुबके पड़े दीमक, चींटी आदि कीड़े-मकोड़े भी जमीन और दीवारों की पर्तों व दरारों से निकल-निकल कर बाहर आने लगे थे। जहां भी कोई छेद या दरार थी, उसमें से बड़े-बड़े पंखयुक्त पतंगे, अपने जीवन की पहली और अंतिम उड़ान भरने के लिए, निकले चले आ रहे थे। पहले वे अपने पर फड़फड़ाते हुए इधर-उधर मंडराते रहते, फिर प्रकाश की ओर जाने वाली अपनी एकमात्र निर्दिष्ट दिशा में, यानी कि शहर-भर के बिजली के बल्बों, सड़क वाले बिजली के खंभों और मिट्टी के तेल से जलनेवाले चिरागों-लालटेनों की ओर, कूच कर जाते। हमारे कमरे के पास वाला बिजली का खंभा पतंगों के एक विशाल झुंड का आकर्षण केंद्र बना हुआ था। वहां आ जुटे पतंगों के झुंड को देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानो कोई विशाल काया धीरे-धीरे हिल-डुल रही हो !

यह वक्त छिपकलियों के लिए भी काफी बढ़िया था। ऐसा प्रतीत होता था, मानो हफ्तों धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करने के बाद, वे भी अपने तोहफे हासिल करने निकल पड़ी हों। वे अपनी लिसलिसी गुलाबी जीभ लपलपाते हुए, फुरती के साथ कीड़ों-मकोड़ों को चट करती जा रही थीं। यह सोचते हुए कि ऐसी दावत अगली गर्मियों से पहले दोबारा नहीं मिलने वाली, वे घंटों अपने पेट ठूंस-ठूंस कर भरती रहीं। पूरी गर्मियों भर ये कीट-पतंगे अंधकार से प्रकाश की ओर की अपनी इस उड़ान में प्रयत्नरत रहते हैं और आजादी हासिल करने के इस प्रयत्न में उनमें से एक भी सही-सलामत नहीं बच पाता !

मुझे ऊंघ महसूस हुई और मैंने अपनी आंखें बंद कर लीं। लेकिन शहर के यातायात का लगातार शोर खिड़की के रास्ते लगातार अंदर आ रहा था। जहाज और दूरदराज के बंदरगाह बहुत दूर प्रतीत हुए और उतनी ही दूर प्रतीत हुईं पहाड़ियां और उनसे निकलने वाले झरने !

इसी बीच किसी वक्त मेरी आंख लग गयी, जो दलजीत के लौटने के बाद ही खुली।

"मैंने समस्या हल कर ली है," आते ही वह प्रसन्न मुद्रा में बोला। "हम ट्रेन-व्रेन का झंझट मोल नहीं लेंगे। मैंने एक ट्रक-ड्राइवर से दोस्ती गांठ ली है। कहता है, हमें जयपुर तक ले जायेगा। करीब तीन सौ मील का सफर है। फिर जयपुर से रेलगाड़ी पकड़ना काफी सुरक्षित होगा।"

"तेरा दोस्त कब ले जायेगा ?"

ट्रक सवेरे चार बजे जायेगा।"

"अभागों को आराम कहां !" मैंने झुंझलाकर कहा, "फिर भी बेहतर है, जितनी जल्दी हो सके, यहां से निकल चलें। आज बुधवार है, और मेरे चाचा का जहाज शायद शनिवार को जायेगा। ट्रक-ड्राइवर को कितने पैसे देने होंगे ?"

"कुछ नहीं। फोकट में सवारी करेंगे। ड्राइवर भी सिख है और मैंने उसे यह कह कर बहकाया है कि हम एक-दूसरे के रिश्तेदार हैं—यानी कि मेरे जीजा की शादी उसकी साली की भतीजी से हुई है !"

ममता के साथ-साथ

अगली सुबह चार बजे हम लाल किले की तरफ चल पड़े। भोर वेला में तारों भरे आकाश में किले के परकोटे काले-काले से दिखते थे। पिछली शाम जिन सड़कों पर जीवन ठाठें मार रहा था, खूब गहमागहमी थी, वे इस वक्त एकदम निर्जन, सुनसान थीं। सड़कों की बत्तियां अपनी वीरान-सी रोशनी पटरियों पर बिखेर रही थीं। बीच-बीच में कोई मोटरकार धीरे से निकल जाती थी। देखकर लगता था जैसे किसी दूसरी दुनिया से आयी हो।

लाल किले के निकट एक-दो ढाबे थे, जो उस वक्त भी खुले थे। उनका धंधा ट्रक-ड्राइवरों की बदौलत चलता था, जो दिन को सोते थे और रात को ट्रक लेकर निकलते थे।

हमारे सिख ड्राइवर का डीलडौल ऊंचा था और वह अंधेरे में जिस तरह खड़ा था, देख कर डर-सा लगता था। उसका एक साथी भी था। वह भी सिख था और कच्छा पहने ही उठ कर चला आया था।

"पिच्छे बैठ जाओ, बाश्शाहो !" ड्राइवर ने अपनी ठेठ पंजाबी में हमसे कहा। मैं पंजाबी काफी समझता था। ड्राइवर कह रहा था, "बस, मिनटों में चल पड़ेंगे, जी !"

ट्रक एक पीपल के नीचे खड़ा था। हम पीछे से ट्रक पर चढ़े, लेकिन आगे रास्ता बंद था। एक क्षण के लिए लगा, जैसे प्रागैतिहासिक काल का कोई दैत्य रास्ता रोके खड़ा है।

उस दैत्य ने एक बार जो नथुनों से हवा छोड़ी और फिर ट्रक के लकड़ी के फर्श पर पैर पटका, तो हम पटखनी खाते हुए पीछे गिरे।

"भैयाजी !" दलजीत ने चिल्ला कर ड्राइवर से कहा, "यहां तो कोई जानवर घुसा हुआ है ?"

"घबरा नहीं ! वह तो ममता है।" ड्राइवर बोला।

"पर यह यहां क्या कर रही है ?"

"हमारे साथ जा रही है। जयपुर की मंडी में ले जा रहा हूं इसे। ऊपर चढ़ जाओ और आराम से उसके साथ बैठ कर सफर करो।"

तब तक थोड़ी रोशनी हो गयी थी। हमने ध्यान से अपने उस सहयात्री को देखा, तो पाया कि वह और कोई नहीं, पंजाब की मोटी-तगड़ी भैंस है।

"क्या बढ़िया भैंस है !" दलजीत बोला। लगता था, दलजीत को भैंसों की खूबियों की पहचान थी, "देख, इसकी आंखें नीली हैं !"

"मुझे नहीं मालूम था कि भैंसों की आंखें नीली भी होती हैं !" मैंने कहा।

"सिर्फ बढ़िया भैंसों की ही आंखें नीली होती हैं।" दलजीत कह रहा था, "नीली आंखों वाली भैंसें भूरी आंखों वाली भैंसों से ज्यादा दूध देती हैं।"

यह हमारा सौभाग्य ही था कि सरदार जी ने ट्रक स्टार्ट कर दिया और नदी से होकर आने वाले सुबह की ताजी हवा के झकोरे भैंस की कुछ बास उड़ा ले गये।

जल्दी ही हम दिल्ली से निकल गये और जयपुर जाने वाली सड़क पर तेज रफ्तार से बढ़ चले। हाल की बारिश के कारण निचले इलाकों में पानी भर गया था और चारों तरफ बगुले, सारस और चाहे (बगुले जैसा ही पक्षी) दिखाई पड़ने लगे थे। खेत-खलिहानों और पेड़ों पर अद्भुत और सुंदर-सुंदर पक्षी पंख मारते हुए उड़े जा रहे थे। उनमें लंबी पूंछ वाले भुजंगे, नीलकंठ और बए थे और कहीं-कहीं सफेद सिर वाली बड़ी-सी चील भी दिख जाती थी, जिसे गरुड़ भी कहते हैं और जो भगवान विष्णु का वाहन माना जाता है।

ज्यों-ज्यों हम राजस्थान के निकट पहुंचते जा रहे थे, चारों तरफ मोर ही मोर दिखाई पड़ने लगे ! इसी तरह ऊंट भी बड़ी संख्या में दिखाई पड़े, जो सड़क के एक ओर सीधी, सलीकेदार पंक्तियों में लंबे-लंबे डग भरते हुए चल रहे थे। जैसे-जैसे हरियाली कम होती जा रही थी और रेगिस्तान आता जा रहा था, वैसे-वैसे लोगों की वेशभूषा अधिक सुंदर होती जा रही थी, मानो धरती में रंगों की कमी को वे अपनी रंग-बिरंगी पोशाकों से पूरा कर रहे हों। स्त्रियों ने चौड़े घेरे वाले लाल घाघरे पहन रखे थे। वे सुंदर गोरी, कद्दावर और हृष्ट-पुष्ट थीं। पुरुष भी लंबे-तगड़े थे। स्त्रियां सोने-चांदी के गहनों से लदी थीं। हट्टे-कट्टे और कद्दावर पुरुषों की सज-धज भी देखने लायक थी। उनमें जो बूढ़े थे, उनकी हवा में फरफराती सफेद दाढ़ियां मन को आकर्षित करती थीं।

ज्यों-ज्यों दिन चढ़ता गया और सूरज ऊपर उठने लगा, सड़क पर यातायात

भी बढ़ने लगा। मगर हमारा ड्राइवर ट्रक की चाल धीमी करने की जगह उसे और तेज भगा रहा था। शायद वह भैंस को बेचने की उतावली में था। फिर जल्दी ही वह एक ट्रक से आगे निकलने की होड़ में लग गया।

आगे वाला ट्रक भी उतनी ही तेज रफ्तार से जा रहा था। सड़क के बीच से हटने की उसकी कोई मंशा नहीं लगती थी। उसमें ऊपर तक ईख लदी थी।

"दौड़ लगी है !" दलजीत भैंस के साथ खड़ा सारे दृश्य का आनंद ले रहा था।

सड़क इतनी चौड़ी नहीं थी कि इतने बड़े दो वाहन अगल-बगल चल सकते। चूंकि दूसरा ट्रक रास्ता नहीं दे रहा था, इसलिए हमारे ट्रक को बैलगाड़ियों वाले कच्चे रास्ते पर उतरना पड़ा। इससे ट्रक के पीछे धूल-गर्द के गुबार उड़े, जिससे हमारा दम घुटने लगा। जब ट्रक ऊबड़-खाबड़ सड़क पर झटके खाते हुए चला, तो हम ट्रक के फर्श के तख्ते पर लुढ़क गये और ममता एकदम हड़बड़ा गयी। लगा कि हमें कुचल ही डालेगी। इसके बाद एकाएक जबर्दस्त झटका लगा, ब्रेकें लगाने की जोरदार आवाज आयी और ट्रक एकदम रुक गया।

जब धूल साफ हुई, तो क्या देखते हैं कि हमारा सरदार ड्राइवर नीचे घबराया हुआ सा खड़ा है और हमें टकटकी लगाये देख रहा है।

"तुम लोग ठीक ठाक तो हो न !" उसने रूखे स्वर में पूछा।

"लगता तो कुछ ऐसा ही है।" मैंने कहा।

"तुमने दूसरे ट्रक को ओवरटेक किया ?" दलजीत ने पूछा।

"नहीं," ड्राइवर खीझ कर बोला, "वह रास्ता ही नहीं दे रहा था। वह भी सिख था। अब तुम लोग उतरो और आगे आकर मेरे साथ बैठो।"

हम झट तैयार हो गये और उसका क्लीनर नाक-भौं सिकोड़ते हुए पीछे आकर भैंस के साथ खड़ा हो गया।

कुछ मील पार करने के बाद ड्राइवर हमसे मित्रतापूर्वक बातें करने लगा और उसने बताया कि उसका नाम गुरनाम सिंह है।

उसने पंजाबी में हमसे पूछा, "मेरे नये हार्न की आवाज सुनोगे ?"

मैंने कहा, "सारे रास्ते अभी तक क्या सुनते आये हैं ?" मैं हिंदी में बोला था। हम दोनों अब एक-दूसरे की बात अच्छी तरह समझने लगे थे।

"ट्रक के पीछे बैठने से हार्न ठीक से सुनाई नहीं पड़ता।" वह बोला, "इसीलिए तुम्हें यहां आगे लाकर बैठाया है। कैसा लगता है ?" और इतना कहने के साथ उसने इतने जोर से हार्न बजाया कि ट्रक का केबिन कानफाड़ू आवाज से गूंज गया।

"बहुत बढ़िया हार्न है," कानों में उंगलियां डाल कर मैंने कहा। "इससे और तेज क्या होगा ?"

"आधे मील की दूरी तक सुनाई पड़ता है।" गुरनाम सिंह गर्व से बता रहा था। एक साइकिल पर बैठे दो सवारों के पास से गुजरते हुए उसने एकाएक जोर से हार्न बजाया, तो वे बेचारे एकदम रास्ते से छिटक कर एक तरफ हट गये।

"यहां भीतर भी इसका शोर सुनाई पड़ता है," मैंने यह बात कह तो दी, मगर फिर बैठा सोचने लगा कि कहीं मेरी बात से वह नाराज न हो गया हो। इसलिए झट मैंने बात पलटी, "मगर कोई फर्क नहीं पड़ता।"

दलजीत ने पूछा, "तुम्हारा हार्न कई आवाजें निकाल सकता है ?"

मैं समझता था कि इस तरह की बात पूछना अशिष्टता है, मगर गुरनाम उसका यह प्रश्न सुनकर एकदम खिल उठा।

"दो तरह की, जी !" वह झट बोला, "एक मरदाना, दूसरी जनाना। देखो !" और उसने एक बार ऊंची आवाज में, एक बार जरा हल्की आवाज में हार्न बजाया। फिर भी, दोनों आवाजें ऐसी थीं कि कान के पर्दे फाड़े डाल रही थीं। हमारे आगे एक ऊंट जा रहा था। वह हार्न की आवाजें सुनते ही ऐसा बिदका कि सड़क छोड़ कर भागा और सीधा खेतों में घुस गया।

"बड़ा जोरदार हार्न है, जी !" गुरनाम सिंह कह रहा था, "इस ट्रक के लिए खासतौर पर बनवाया है। विदेशी हार्न कतई अच्छे नहीं लगते मुझे। उनकी आवाज इतनी ऊंची होती ही नहीं। हिंदुस्तानी हार्न सबसे बढ़िया होता है, जी !"

थोड़ी देर शांति रही। इस बीच मैं बैठा-बैठा ध्वनि की प्रकृति के बारे में सोचता रहा कि क्यों कुछ ध्वनियां कानों को बुरी लगती हैं और कुछ अच्छी। मोटर के हार्न की ध्वनि भी कुछ लोगों को तो मधुर लग सकती है, और कुछ लोगों को बेहद तीखी और कष्टकर प्रतीत होती है।

"यह मेड इन ओल्ड दिल्ली है, जी !" गुरनाम ने मेरे विचारों की कड़ी को तोड़ते हुए फिर अपने हार्न का गुणगान कर दिया, "कुल पचहत्तर रुपए खर्च आये हैं। मैंने खास नमूना देकर बनवाया है। बस, एक ही खराबी है इस हार्न में जी, कि इसे भीगना नहीं चाहिए।"

अब ज्यों ही उसने अपनी हथेली हार्न पर रखी, मेरी इच्छा हुई कि मैं ईश्वर से प्रार्थना करूं—हे प्रभु ! तत्काल पानी बरसा दे। पर चूंकि आकाश एकदम साफ था, इसलिए मैंने सोचा कि ऐसी स्थिति में यह प्रार्थना करना व्यर्थ होगा।

"वाह, मगर तू क्या जाने कि इस जैसा हार्न लगाना कैसा लगता है !

जरा बजा कर तो देख, यार ! तू खुद बजा कर क्यों नहीं देखता ?"

यह बात उसने मुझसे कही थी, क्योंकि मैं उसकी बगल में बैठा था। दलजीत दरवाजे के साथ बैठा था।

"जी ठीक है !" मैंने कहा, "आप तो इसका कमाल दिखा ही चुके हैं।"

"न, अब तू बजा कर देख। तेरे को बजाना ही पड़ेगा !" उस समय वह उस बालक की तरह आचरण कर रहा था जिसकी उदारता एकाएक जाग उठी हो और जो अपना नया खिलौना छोटे भाई को भी खेलने के लिए देना चाहता हो।

बस, उसने झपट कर मेरा हाथ पकड़ा और हार्न पर रख दिया। जैसे ही हार्न हल्का-सा बजा, कि मेरी पूरी बांह में फुरफुरी-सी दौड़ गयी। मैंने हार्न को जोर से दबाया, तो संगीत की लहर ट्रक के बाहर-भीतर सर्वत्र प्रवाहित हो उठी। फिर जैसे-जैसे मैं हार्न को दबाता रहा, उस ड्राइवर की खुशी मुझे अपने भीतर महसूस होती रही। उस जैसा हार्न पाकर कोई भी व्यक्ति सड़क के बादशाहों जैसा गौरव और शक्ति महसूस करता।
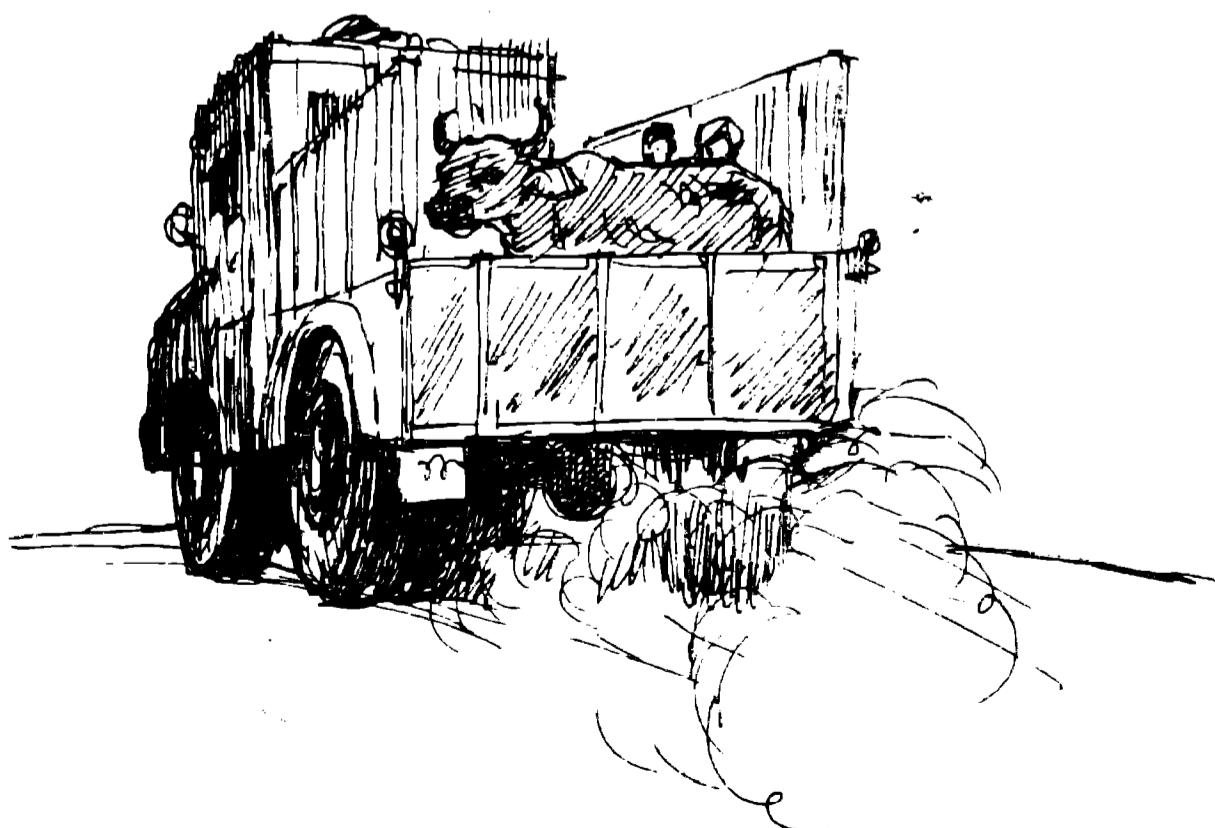
जयपुर के बाहर डाकुओं से मुठभेड़

जब तक हम जयपुर पहुंचे, अंधेरा घिर आया था। इसलिए हम शहर ज्यादा नहीं देख सके। रात हमने ट्रक में बिताई और उसके पिछले हिस्से में सोए। जयपुर की रातें सर्द होती हैं—यहां तक कि गर्मियों में भी रातें ठंडी हो जाती हैं। गुरनाम ने हमें अपना बिस्तर भी दिया। गुरनाम ट्रक में सोने का आदी था। लेटते ही वह तो सो गया और जोर-जोर से खर्राटे भरने लगा, मगर दलजीत और मैं बेचैनी से करवटें बदलते रहे। रात को कई बार उसने मुझे लातें मारीं। ट्रक का फर्श कठोर था, और उसमें से भैंस की बास आ रही थी।

अभी मुश्किल से हमारी आंख लगी ही थी (या हमें शायद ऐसा लगा) कि गुरनाम सिंह ने हमें झकझोर कर जगा दिया। बोला कि चार बजने वाले हैं और आज उसे लाल पत्थर लाद कर वापस जाना है।

"क्या जिंदगी है !" उनींदे दलजीत ने एक हाथ से आंखें मलते हुए कहा, "जिंदगी में कभी ड्राइवर नहीं बनूंगा, हरगिज नहीं बनूंगा।"

"अरे भाई, जिंदगी के दिन तो काटने ही पड़ते हैं किसी तरह।" गुरनाम सिंह ने दार्शनिक भाव से कहा, "मुझे ड्राइविंग अच्छी लगती है। छह या सात बरस का था, जब मैंने ड्राइविंग सीख ली थी। फिर आमदनी थोड़ी नहीं है इस काम में। अब जब दिल्ली पहुचूंगा, तो दो दिन छुट्टी मनाऊंगा और यह वक्त अपने बीवी-बच्चों के साथ बिताऊंगा। तो दोस्तो, अलविदा ! अगर फिर कभी दिल्ली आओ, तो मैं तुम्हें लाल किले की दीवारों के नीचे मिलूंगा।"

जब वह ट्रक स्टार्ट करके धड़धड़ाते हुए निकला, तो हमने हाथ हिलाये। ट्रक काफी शोर करके निकला था, और शायद आसपास के लोग जाग गये थे। कुत्ते भी भौंके और मुर्गे ने बांग दी।

हम जहां खड़े थे, वह शहर का बाहरी हिस्सा था। सामने ही एक विशाल

झील दिखाई पड़ रही थी। दूसरी तरफ दूर-दूर तक खुली जंगली भूमि थी। फिर नंगी पहाड़ियां और रेगिस्तान था। मगर कंटीली झाड़ियों और बबूल के पेड़ों के पीछे किसी राजमहल अथवा किसी शिकारगाह के खंडहर दिखाई पड़ रहे थे।

"चल, उधर चलते हैं !" दलजीत ने सुझाव दिया, "झील में नहा कर थोड़ा विश्राम करते हैं। फिर बाद में सुबह शहर जाकर रेलगाड़ियों के बारे में पूछताछ करेंगे।"

हम झील के किनारे-किनारे चलते गये। दूसरे किनारे तक पहुंचने में लगभग आधा घंटा लग गया।

खेतों में कोई आदमी था नहीं। हां, एक ऊंट कुएं के गिर्द चक्कर लगा रहा था और छोटी-छोटी बाल्टियों से पानी उलीच रहा था। एक गांव से धुआं उठता दिखाई दे रहा था और सुबह की थमी हुई हवा में कहीं से बंसी की टेर भी सुनाई पड़ रही थी।

खंडहरों तक पहुंचने में हमें बीस मिनट लग गये। ऐसा लगता था वहां कभी कोई शिकारगाह रही होगी, जो किसी राजा-महाराजा ने तब बनवाई होगी जब इधर शिकार की बहुतायत होती होगी।

शिकारगाह के प्रवेश-द्वार को अनगढ़ पत्थरों से पाट कर बंद कर दिया गया था, लेकिन दीवार का एक हिस्सा ढह चुका था। हम उस टूटी दीवार को फांद गये। भीतर पत्थरों से बना दालान था। उस दालान के बीचों-बीच पत्थर का एक सूखा फव्वारा था, जो न जाने कब से बंद पड़ा था। फव्वारे के फर्श की दरारों में से छोटा-सा पीपल उग आया था।

दालान पार करके हम मुख्य इमारत की तरफ गये। दलजीत एकाएक ठिठक कर बोला, "रस्टी ! तुम्हें कोई महक आ रही है ?"

"हां, आ तो रही है।" मैंने कहा, "लगता है कहीं मुर्गा पक रहा है।"

ऐसी जगह चिकन-करी जैसी चीज की हम कल्पना भी नहीं कर सकते थे। इसका मतलब यह था कि खंडहरों में कोई रहता है। मैं अचरज में पड़ा सोच ही रहा था कि क्यों न यहीं से लौट चलें, मगर कौतूहल ने मानो हमारे पैर जकड़ दिये हों ! एक तो जिज्ञासा, फिर चिकन की महक ! सो, हम दोनों आगे बढ़े। धूप से नहाया दालान पार करके हम एक बरामदे की छाया में जाकर खड़े हो गये। वहां एक दरवाजा था, जो एक अंधेरे कमरे का था और उसी के भीतर से सालन की महक आ रही थी। हम एक अनजाने, रहस्य से भरे स्थल पर दुविधा में खड़े देख रहे थे।

"चल, आगे बढ़ !" दलजीत बोला।

"तू भी चल !" मैंने कहा।

हम दोनों एक साथ कमरे में दाखिल हुए। मगर वहां कोई नहीं था। कमरा खाली पड़ा था।

एक कोने में चूल्हा था और चूल्हे पर एक हंडिया चढ़ी थी, जिसमें कोई चीज पक रही थी मगर पकानेवाला कहीं नजर नहीं आ रहा था।

मैंने बड़ी सावधानी से चूल्हे की तरफ कदम बढ़ाये। जाकर हंडिया का ढक्कर उठाया और सूंघा। सचमुच चिकन-करी थी। शहर की आबादी से इतनी दूर वीराने में एक शिकारगाह के खंडहर, और वहां पकती हुई मुर्गी ! हम हैरान थे—यहां यह सब कैसे ? आसपास कोई दूसरा बर्तन भी नहीं था, इसलिए हमने चूल्हे पर रखी हंडिया में हाथ डाला। एक बोटी निकाल कर मैं उसमें दांत गड़ाने ही जा रहा था कि अचानक पीछे से दो मजबूत बांहों ने मुझे दबोच कर ऊपर उठा लिया।

मैं इतनी बुरी तरह चौंका कि मेरे हाथ से बोटी छूट गयी। मैंने उस आदमी की गिरफ्त से छूट निकलने की भरसक चेष्टा की, मगर उसकी बांहें बड़ी बलिष्ठ थीं। ये बांहें किसी दैत्य दानव की नहीं, बल्कि मनुष्य की थीं। यह मैंने उसकी बांहों पर काले-काले बाल देख कर जाना। छूटने के लिए मैंने बहुतेरे हाथ-पैर मारे, मगर तभी एक और प्राणी की छाया मेरे सामने प्रकट हुई और उसने आते ही मेरी टांगें पकड़ लीं। उधर, दलजीत भी किसी की गिरफ्त में छटपटा रहा था। मैं चिल्ला कर उससे कुछ कहना चाहता था, मगर किसी तीसरे रहस्यमय आदमी ने आकर मेरे मुंह में मैला चिथड़ा ठूंस दिया। मेरे दोनों हाथ भी उसने पकड़ लिए, और फिर मेरे दोनों पैरों को रस्सी से जकड़ दिया गया। इस तरह मेरी मुश्कें कस कर उन्होंने मुझे जमीन पर औंधे मुंह पटक दिया। मैंने देखा, कमरे के दूसरे कोने में पड़े दलजीत की भी यही दुर्दशा थी। हम एकदम लाचार थे। कमरे में कम से कम पांच आदमी थे।

"छोटा सा छोकरा है !" एक आदमी ने मुझ पर झुक कर मेरे चेहरे का निरीक्षण करते हुए अपनी बोली में यह बात कही। अचरज की बात, कि मैं उसकी बोली समझ गया ! अंधेरे में मैं उसका चेहरा-मोहरा तो नहीं पहचान सका, मगर यह जरूर समझ गया कि वह दाढ़ी वाला है, क्योंकि मेरी गर्दन पर उसके बाल चुभ रहे थे। उसकी सांस में से लहसुन की बू भी आ रही थी।

"छोकरा हो या छोकरी, या आदमी," कोई कह रहा था, "जो भी हमारे भोजन पर हाथ डालेगा, उसकी धुनाई होनी चाहिए।"

"इस छोकरे का रंग तो काफी गोरा है," दढ़ियल आदमी कह रहा था।

''कोई विदेशी है क्या ?''

''नहीं, आधा देसी आधा विदेशी है। इन्हें दालान में ले चलते हैं। वहां ठीक से निगाह डाल सकेंगे।''

''नहीं-नहीं, वहां नहीं ! अगर गांव वालों ने हमें वहां देख लिया, तो जल्दी ही बात फैल जायेगी। हमें इस जगह का इस्तेमाल आगे भी करना है।''

''तो फिर लालटेन जला।''

जो आदमी मिट्टी के तेल वाली लालटेन जला रहा था, वह कमरे में सबसे ऊंचे डीलडौल का आदमी था। लालटेन की बत्ती का प्रकाश फैला, तो उसकी विशाल परछाई दीवार पर पड़ने लगी। यह आदमी दानव सा लगता था—छह फुट से भी कई इंच ऊंचा कद था उसका। सीना नंगा था और सिर के बाल बहुत छोटे-छोटे थे। उसकी मांसपेशियां लोहे के डलों की तरह उभरी हुई थीं। दाढ़ी वाले के पीछे खड़ा आदमी शायद आदेश दे रहा था। मैंने अभी तक उसे देखा नहीं था।

''इसे पलट कर सीधा लिटा। देखें, कौन है ?'' वह बोला।

उस दानव ने मुझे जमीन पर लुढ़काकर का सीधा लिटाया और मैं पड़ा-पड़ा काली छत की तरफ असहाय-सा देखने लगा।

तीन चेहरे मुझे घूर रहे थे। मेरे मुंह में कपड़ा ठुंसा था, मुश्कें कसी हुई थीं और उनकी दया पर निर्भर मैं भय के मारे थरथर कांप रहा था। उनकी शक्ल-सूरत अपराधियों जैसी लगती थी। शायद डाकू थे, और खंडहरों का इस्तेमाल लुकने-छिपने के लिए करते थे।

दाढ़ीवाले के जबड़ों की हड्डियां उभरी हुई थीं और नजर भेंगी थी। हालांकि उस दानवाकार व्यक्ति की नाक चौड़ी थी और होंठ भी मोटे थे, लेकिन उसका चेहरा निष्ठुर नहीं लगता था। यह तो तीसरा आदमी था, जिसका चेहरा देख कर मैं दहल गया था। वह खास ऊंचा-लंबा भी नहीं था और न ही कुरूप था। दरअसल वह थोड़ा ठिगने कद का था और मेरी तरफ देखते हुए धीरे-धीरे मुस्करा रहा था। मगर उसकी मुस्कराहट ऐसी थी कि मेरे सारे बदन में सिहरन दौड़ गयी।

वह सधी आवाज में कह रहा था, ''लड़के, तूने हमारी मुर्गी खाने की कोशिश करके ठीक नहीं किया। बेचारा 'भंभीरी' कितनी मेहनत से चुरा कर लाया था यह मुर्गी !''

''अजी, आधी रात को गया था।'' वह दानव बोल उठा। यह अद्भुत नाम भंभीरी उसी का था। भंभीरी यानी कि फिरकी या लट्टू। वह कह रहा था, ''खेतों में मेरे पीछे तीन कुत्ते और आधा गांव लग गया था, मगर मैंने खूब छकाया उन्हें।
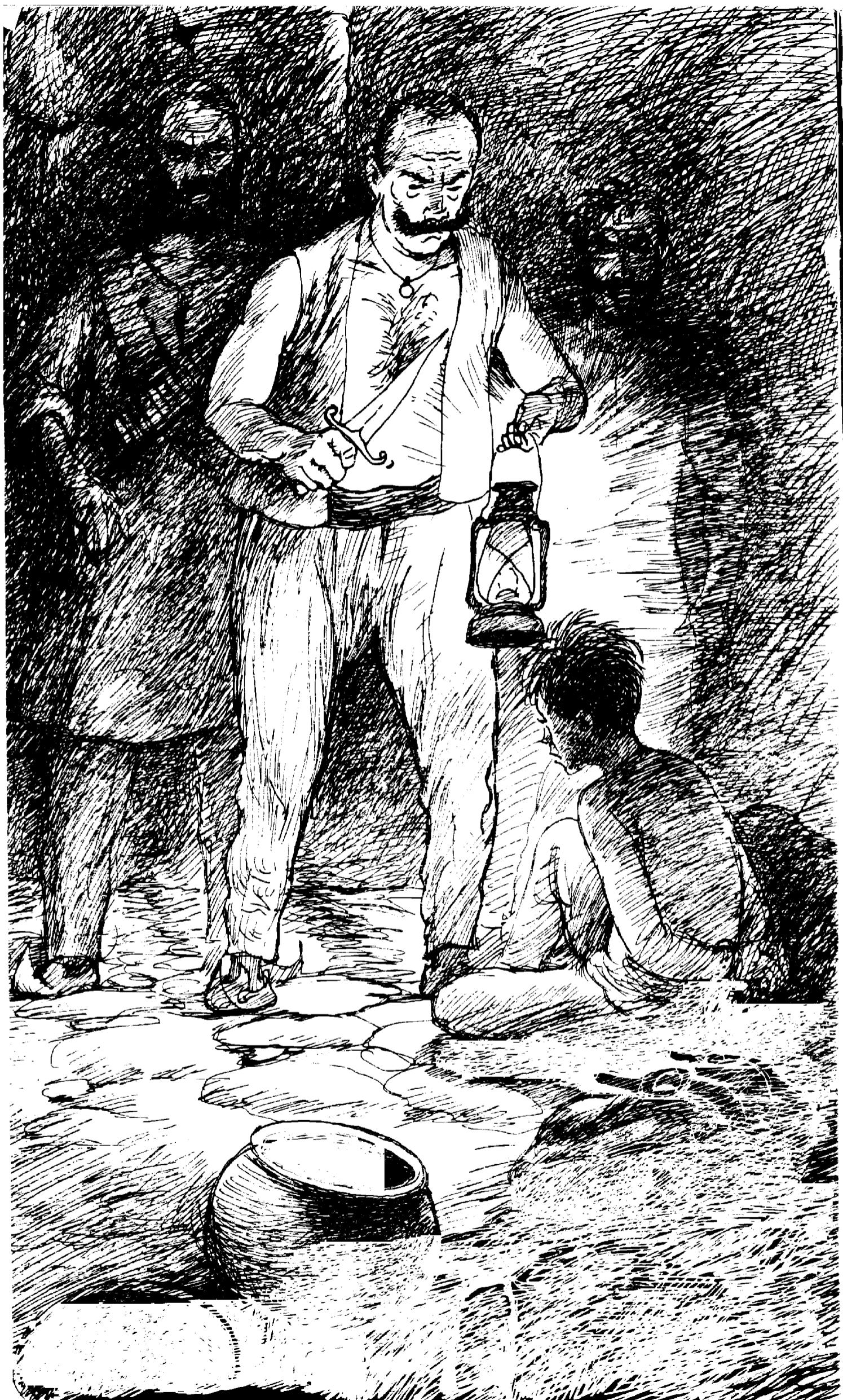
चकमा देकर निकल आया।" यह कहते-कहते उसने खीसें निपोरीं।

"दिल्लगी छोड़ो !" दाढ़ीवाला क्षुब्ध स्वर में बोल रहा था, "मुर्गी का इतना महत्व नहीं है। सवाल तो यह है कि ये लोग यहां आये क्यों ? तुम्हें क्या लगता है, ये हमारे बारे में कुछ जानते हैं ?"

"इसी से पूछते हैं।" ठिगने कद और डरावनी शक्ल वाला आदमी बोला। इतना कहने के साथ वह मुझ पर झुका और मेरी आंखों में आंखें डाल कर देखने लगा। फिर मेरे मुंह से उसने चिथड़ा निकाला। चिथड़ा निकलने के साथ ही मेरे नीचे के दांतों में कोई ठंडी, सख्त-सी चीज चुभी। ऐसे जैसे कोई दांतों का डाक्टर रोगी के दांतों की प्राथमिक जांच कर रहा हो। मगर यह ठिगना, मनहूस और डरावनी शक्ल वाला आदमी यह काम कटार की नोक से कर रहा था।

"खबरदार, बिना इजाजत के कुछ बोले या चिल्लाये !" वह गुर्राया। फिर कटार निकालकर पीछे हट गया, "इसे जरा बिठा दे।...ठीक ! मेरी बात समझ ली तूने ?"

मैंने सिर हिला कर हामी भरी। भंभीरी आगे आया और सहज ही मुझे उठाकर दीवार के साथ टिका दिया।

"मेरी कलाइयां दुख रही हैं," मैं बोला।

भंभीरी मेरे हाथों के बंधन खोलने को तत्पर हुआ, पर उसका सरदार बोल उठा, "बेवकूफ, मत खोल !"...और दानव पीछे हट गया।

"हां, अब बता, यहां क्या कर रहे थे ?"

"सुस्ताने के लिए जगह ढूंढ़ रहे थे।" मैंने कहा।

"जरा इसकी बांह मरोड़, भंभीरी।"

मैं नहीं समझता था कि दानव मेरी बांह को इतनी जोर से मरोड़ना चाहता था। मगर उसके हल्के-से झटके से मेरी चीख ही निकल गयी। स्पष्ट था, जीवन में वह कभी पहलवानी करता था।

"झूठ न बोल !" सरदार ने कहा, "झूठ बोलना बड़ा दुखदायी होता है, समझे ! तुम हमारी जासूसी कर रहे थे ?"

"हम कुछ नहीं जानते आप लोगों के बारे में," मैंने हताशा के स्वर में कहा, "हम तो जयपुर में एक रात से ही हैं।"

ये लड़के जासूस लगते नहीं," दाढ़ी वाला बोला, "छोकरे हैं।"

"हम समुंदर की तरफ जा रहे हैं," मैंने कहा, "हमारे पास ज्यादा पैसे भी नहीं हैं।"

"इसीलिए हमारा भोजन चुराना चाहते थे ?" भंभीरी ने कठोर स्वर में कहा।

लगता था, उसे उतनी चिंता हमारे पुलिस के जासूस होने की नहीं थी जितनी कि अपना भोजन गंवाने की।

ठिगना आदमी कह रहा था, "देखते हैं, इनके पास कोई पैसा-धेला भी है या नहीं।" उसने मेरी जेबों की तलाशी ली और मेरे पास जो थोड़े-से नोट और रेजगारी थी, सब निकाल ली। फिर वह दलजीत के निकट गया, जिसके मुंह में अब भी कपड़ा ठुंसा हुआ था और जो बेबस-सा पड़ा देख रहा था। ठिगने आदमी ने जाकर उसका बटुआ निकाला और खोल कर देखा। बोला, "तीस-चालीस रुपए हैं।" उसने सारी रकम अपनी जेबों में डाल ली।

"इन्हें जाने दें अब ?" भंभीरी ने पूछा।

"नहीं, बेवकूफ ! शोर मचा देंगे ये छोकरे। जो थोड़ा खाना बचा है उसे जल्दी से निपटाओ और फिर यहां से चलते बनो।"

इस तरह हम वहां करीब पंद्रह मिनट पड़े रहे। हमारी मुश्कें कसी थीं। डाकू जल्दी-जल्दी खाना ठूंसे जा रहे थे। वे अपने पीछे कुछ भी छोड़कर नहीं जाना चाहते थे। जब वे खा चुके, तो उंगलियां चाटते हुए डकारें मारने लगे। भंभीरी ने बड़ी जोर से डकार मारी। डकार उसके पेट की गहराई से उठी थी और ऊपर आते-आते गुरु-गंभीर आवाज में सारे कमरे में इस तरह गूंज गयी थी जैसे कोई घंटा बज उठा हो। ठिगने डाकू ने भद्दे तरीके से ही धीरे से डकार ली।

"इन्हें यहीं पड़ा रहने दो," वह मेरी तरफ मक्कार दृष्टि से देखते हुए धीरे से मुस्कराया, "जितना चाहें सुस्ता लें यहां। दो-एक दिन तक तो किसी को खबर ही नहीं लगेगी।...गोरे छोकरे का मुंह फिर से बंद कर दे, भंभीरी !"

भारी-भरकम शरीर वाला दानव जब मेरे ऊपर झुका, तो लालटेन की रोशनी में व्यवधान पड़ा। हालांकि अंधेरा था, फिर भी मैंने उसकी आंखों में सहानुभूति की टिमटिमाहट देखी। उसने गंदा चिथड़ा फिर से मेरे मुंह में ठूंस दिया और ऊपर कपड़ा भी कस कर बांध दिया। और फिर, अंधेरे की आड़ में चुपके से वह अपना हाथ मेरी पीठ के पीछे ले गया और जल्दी से मेरी रस्सी की गांठ ढीली कर दी।

"ठीक है, अब निकल चलो।" सरदार बोला।

वह कमरे से बाहर निकल गया। पीछे-पीछे दूसरे डाकू भी निकल गये। भंभीरी सबसे बाद में गया, मगर उसने मुड़ कर हमारी तरफ देखा तक नहीं। मैं सांस रोके बैठा था। ज्योंही उनके पैरों की आहट सुनाई देनी बंद हुई, मैंने जल्दी से अपने हाथ रस्सी में से निकाले, जिसे भंभीरी ढीला कर गया था, और

मुंह में से गंदा चिथड़ा भी निकाल फेंका। फिर पैरों के बंधन खोल कर मैं रेंगता हुआ दलजीत के निकट गया। उसके मुंह में ठुंसा कपड़ा निकाला और उसकी कलाइयों में बंधी रस्सी खोलनी शुरू की।

दलजीत बोलने लायक हुआ तो उसने पूछा, "तूने रस्सी खोली कैसे ?"

"इतना ऊंचा मत बोल," मैंने कहा, "वे लौट कर भी आ सकते हैं। उनकी हंडिया भी यहीं रखी है। हो सकता है, उनकी न हो, किसी और की हो।"

"लेकिन आखिर तूने अपनी रस्सी खोली कैसे, रस्टी ?"

"वह दानव जैसा आदमी सबकी आंख बचाकर मेरे हाथ का बंधन खोल गया था। लगता है, उसे हम पर तरस आ गया।"

"ऐसे दयावान का ईश्वर भला करे !" दलजीत ने उत्साहपूर्वक कहा, "नहीं तो पता नहीं कितने दिन यहां पड़े सड़ते रहते और भूखों मर जाते। भूखों न भी मरते, प्यास से ही दम घुट जाता।"

ज्योंही दलजीत के शरीर के सारे बंधन खुले, वह उठ कर बैठ गया और टांगें-बांहें सीधी करने लगा। फिर वह घुटनों को ठुड्डी तक ले गया और चिंतित मुद्रा में मेरी तरफ देखने लगा।

"अब क्या होगा, रस्टी ?" हमारे सारे पैसे भी वे ले गये। अब कहीं जा नहीं सकते—न आगे, न पीछे। चल, निकट के किसी पुलिस थाने में चल कर आत्मसमर्पण कर देते हैं।

"वे हमारे झोले भी ले गये। खैर, अगर डाकू थे, तो यह तो उनका धर्म और धंधा है कि जो मिले उसे हथिया लो। मैं तो कहता हूं, हमें अपने आपको भाग्यशाली समझना चाहिए। वे हमारी हत्या भी तो कर सकते थे !"

"हम उनके पहले शिकार न होते—मतलब कि इससे पहले भी वे हत्याएं करते रहे होंगे। वह ठिगना...," दलजीत नाक-भौं सिकोड़ते हुए शायद सोच रहा था कि कुछ भी हो सकता था। फिर जेबें टटोलते हुए उल्लसित होकर बोला, "बड़े चतुर बनते थे ! रस्टी, देख तो, मेरी घड़ी छोड़ गये हैं, और जेबों में थोड़ी रेजगारी भी बची है।"

"ठीक है। इतनी काफी है," मैंने कहा, "भूखों मरने की नौबत तो नहीं आयेगी। घड़ी बेच डालेंगे। एक बार किसी तरह जामनगर पहुंच जायें, तो घड़ी भी नहीं बेचनी पड़ेगी...संकट के समय काम आयेगी।"

"क्या यह संकट की वेला नहीं है ?"

"हां, है तो सही। फिर भी...।"

"और तू समझता है, हम आगे जा सकते हैं ? अभी तूने उम्मीद नहीं

छोड़ी ?"

"तेरी क्या मरजी है ?"

"तू समझता है, मैं तेरे से पहले हौसला हार जाऊंगा ? चल, रस्टी ! यहां से निकल चलते हैं। कल शनिवार है, और हमें जहाज पकड़ना है।"

कपड़ों की चोरी और सीनाजोरी

दलजीत और मैं रेलगाड़ी के एक माल-डिब्बे के फर्श पर, जिसके ऊपर छत नहीं थी, चित पड़े थे। गाड़ी धीमी चाल से रेगिस्तानी इलाके में से गुजर रही थी और लू के थपेड़ों के साथ रेत हमारे ऊपर उड़ती आ रही थी। कंकरीली रेत हमारे सिरों में, हमारी आंखों में, और हमारे मुंह में किरकिरा रही थी। उससे कोई बचाव नहीं था। रेत से सना दलजीत का चेहरा अब मेरे चेहरे जैसा ही लगने लगा था। ऊपर से चिलचिलाती धूप गजब ढा रही थी और माल-डिब्बे के कोने में जरा-सी जगह पर हमें थोड़ी छांह मिली थी। हमारे पास जितने पैसे थे, उनके हमने केले खरीद लिए थे और बीच-बीच में खाते आ रहे थे।

"सुबह तक तो भूख से हम अधमरे हो जायेंगे," मैंने कहा, "क्यों न थोड़े केले बचा कर रख लें !"

"सुबह तो कल आयेगी," दलजीत बोला, "भूख मुझे आज लगी है। फिर हम सवेरे-सवेरे जामनगर पहुंच ही जायेंगे।"

"और अगर जहाज जा चुका हुआ, तो ?"

"जहाज वहीं होगा।"

"तू कैसे जानता है ?" मैंने पूछा।

"बता नहीं सकता। बस, थोड़ा आशावादी हूं।"

"अब किसी भी दिन वह लंगर उठा कर चल देगा। हो सकता है, रवाना ही हो गया हो। दलजीत, पैसों के बिना हम कठिनाई में पड़ जायेंगे। तब भला क्या करेंगे ?"

"चिंता छोड़, रस्टी ! घबराता क्यों है ? अगर कोई विपदा आयी, तो यह घड़ी बेच डालेंगे और स्कूल लौट जायेंगे। तब होगा यही न कि हमें स्कूल से निकाल दिया जायेगा। नहीं, वे ऐसा नहीं करेंगे। मेरे बाप के पैसों से हाथ धोने

पड़ेंगे उन्हें। लेकिन अगर तू कहेगा तो हम फिर भाग निकलेंगे।''

''कितना अच्छा हो, जहाज वहीं हो !'' मैंने कहा।

''वहीं होगा, जायेगा कहां ! कल हम उसमें बैठ कर जायेंगे। मुझे आशा है, तुम मेरे साथ मोम्बासा चलोगे और कुछ दिन मेरे घर रहोगे।''

''अरे, अंकल के साथ सैर करने से फुर्सत किसे मिलेगी !'' मैंने कहा।

''बड़ा मजा आयेगा। फिर कभी स्कूल नहीं जाना पड़ेगा। मैं भी तुम्हारे साथ चलूंगा रस्टी, मैं नहीं समझता व्यापार-धंधा इतना दिलचस्प काम होगा।''

''हम साथ-साथ सारी दुनिया की सैर करेंगे।'' मैंने कहा, ''कैसे-कैसे सपने देखते हैं हम !''

''खैर, हम किसी दिशा में जा तो रहे हैं ! मेरे दादा कहा करते थे (वही दादा, जिन्होंने पंजाब का बना कपड़ा बेचते हुए सारी दुनिया की सैर की थी) कि एक जगह से दूसरी जगह जाने का सबसे बड़ा फायदा यह है कि हम यह देख सकते हैं कि दोनों जगहों के बीच क्या है।''

''वह तो कपड़ा बेचते थे,'' मैंने कहा, ''हमारी तरह सपने नहीं देखते थे। समझे !''

''तू हिम्मत हारने लगा है, रस्टी !''

''नहीं, बिल्कुल नहीं।''

मगर रात का वह सफर बड़ा कष्टदायक था। परेशानी की बात तो यह थी कि गाड़ी धीरे-धीरे चल रही थी और जगह-जगह रुकती हुई जाती थी। एक छोटे-से स्टेशन पर शायद चारे से भरे ढेर सारे बोरे हमारे वाले माल-डिब्बे में उछाल दिये गये। हम सोते-जागते लेटे थे और बोरों के नीचे दफन होते-होते बचे। लेकिन फिर हमने पाया कि सुस्ताने के लिए बोरे काफी आरामदेह थे और हम सुबह तक उनके ऊपर पसरे पड़े रहे।

आकाश साफ हुआ, तो हम समझ गये कि हमारा गंतव्य अब अधिक दूर नहीं है। प्राकृतिक दृश्य एकदम बदल चुके थे। रेगिस्तान पीछे छूट गया था और समुद्र-तट के साथ वाला मैदानी इलाका दिखाई पड़ने लगा था।

झूमते हुए ऊंचे ताड़ के पेड़ों के बीच से मैंने जीवन में पहली बार समुद्र के दर्शन किये।

समुद्र बिल्कुल वैसा ही था जैसी मैं कल्पना किया करता था। विशाल, अकेला और नीला—बिल्कुल आकाश जैसा नीला। और जो पहला जहाज मैंने देखा, वह एक अरबी 'ढो' (मस्तूल वाला जहाज) था, जो समुद्र-तट की तरफ बह कर आने वाली हलकी बयार में जरा-सा झुका हुआ लगता था।

रेलगाड़ी एक नदी पर बने छोटे से पुल पर रुकी। यह नदी मैदानी इलाके में से होती हुई समुद्र में जा समाती थी।

हम वहीं उतर गये। ब्रेकमैन को हमने हाथ हिला-हिला कर धन्यवाद दिया, क्योंकि उसने हमें रेलगाड़ी पर बैठाने की इतनी उदारता दिखाई थी। फिर हम जल्दी-जल्दी नदी के किनारे से फिसलते हुए नीचे उतर गये और तब तक पुल के नीचे दुबके रहे, जब तक कि रेलगाड़ी ऊपर से निकल नहीं गयी। हम नहीं चाहते थे कि गार्ड हमें देख ले। वह ब्रेकमैन की तरह उदार नहीं था।

जब हमने देखा कि हम वहां अकेले हैं, आसपास कोई नहीं है, तो हमने यात्रा से धूल-धूसरित और गंदे कपड़े उतार फेंके और कुमुदिनी के फूलों के सिवार में से रास्ता बनाते हुए नदी में उतर गये। नदी की धारा मंद गति से बह रही थी। पहाड़ी नदियों जैसी तेजी उसमें नहीं थी। उसका कुनकुना पानी इतना स्फूर्तिदायक भी नहीं था जितना कि पहाड़ों से आने वाला पानी होता है। फिर भी नहाने के लिए साफ-स्वच्छ था। हमारे थके-मांदे शरीरों में एक नयी जान आ गयी! हम पानी में हाथ-पैर मारते हुए अठखेलियां करते रहे। कभी एक-दूसरे पर पानी उछालते, कभी डुबकियां लगाते। दलजीत ने पानी के नीचे-नीचे तैरने की कोशिश की और जब ऊपर आया, तो उसके उलझे हुए केशों में कुमुदिनी का एक फूल था, जो पौधे से टूटकर उसके सिर पर चिपक गया था।

हम आसपास के वातावरण से एकदम बेखबर होकर पंद्रह मिनट तक पानी में उछल-कूद करते रहे। जब नदी से निकल कर किनारे पर आये, तो देखा कि हमारे कपड़े गायब हैं ! बस, दलजीत की पगड़ी पड़ी हुई थी।

ऊपर किनारे पर तीन छोकरे खड़े थे। वे मात्र लंगोट पहने थे और खड़े-खड़े हमें घूर रहे थे। तीनों में जो सबसे बड़ा था, उसने हमारे कपड़े उठा रखे थे।

"अरे भाई, हमारे कपड़े दे जा," दलजीत ने विनयपूर्वक यह बात कही, "तुमने किरपा करके मेरी पगड़ी तो छोड़ दी, अच्छा किया, लेकिन सिर पर बांधने के सिवा मैं इसे और कहीं नहीं पहनता।"

तीनों छोकरे खिलखिला कर हंसे और फिर एकदम मुड़ कर खेतों में भागते चले गये।

"रुको !" दलजीत चिल्लाया।

"चल, उनका पीछा करते हैं।" मैंने कहा।

हम दोनों के लिए यह जीवन और मरण का सवाल था। दलजीत के शरीर पर पगड़ी और घड़ी थी, लेकिन मेरे बदन पर तो ये चीजें भी नहीं थीं। हम फुर्ती से ऊपर किनारे पर चढ़ गये और देहाती छोकरों का पीछा करने लगे। मगर

तब तक वे काफी आगे निकल चुके थे। खेतों में से भाग कर जाने का रास्ता वे भली-भांति जानते थे और गांव जा पहुंचे थे, जबकि हम अभी खेत में ही थे और पुलियों और सिंचाई वाली क्यारियों के गड्ढों में गिरते-पड़ते जा रहे थे। तभी एक दीवार के पीछे से पत्थरों-ढेलों की बौछार हुई और हम सहम कर वहीं खड़े हो गये।

"चल, इन्हें समझाने की कोशिश करते हैं," मैंने कहा। अपने दोनों हाथ मुंह के आगे लगाकर मैंने ऊंचे स्वर में कहा, "मेहरबानी करके हमारे कपड़े लौटा दो। हमारे पास और कोई कपड़ा नहीं है।"

जवाब में एक बड़ा-सा पत्थर आया, जो मेरे कान के निकट से सनसनाता हुआ निकल गया।

"लगता है, इधर के लोग हिंदी बोलते-समझते नहीं।" मैंने कहा, कहो तो अंग्रेजी में बात करूं। और कोई भाषा मुझे आती नहीं।"

"न-न, अंग्रेजी नहीं ! भड़क कर वे और पत्थर मारेंगे। मेरी समझ से तो ये गुजराती बोलते हैं...और मुझे यह भाषा आती नहीं।"

तभी एक आदमी खेत की मेंड़ पर दिखाई पड़ा, जो लाठी भांजते हुए ऐसी बोली में कुछ कह रहा था जो हमारे पल्ले नहीं पड़ रही थी।

"समझ सकता है, क्या कह रहा है ?" दलजीत ने मुझसे पूछा।

"मैं कैसे बताऊं ! शायद कह रहा है, 'मेरे खेत से बाहर निकलो'।"

"तो हम भी कपड़े लिए बगैर नहीं जायेंगे।"

"लगता है, कपड़ों के बिना ही जाना पड़ेगा।" मैंने कहा, "देखो, कुत्ते आ गये !"

गांव के कई कुत्ते खूंखार शिकारी कुत्तों की तरह हमारी तरफ दौड़े आ रहे थे। पीछे-पीछे लाठियां भांजते हुए दो आदमी और हाथों में पत्थर-ढेले लिए कई लड़के थे। दलजीत और मैंने पीठ दिखाने में एक क्षण की देरी नहीं की। थके-मांदे होने के बावजूद हम जितनी तेजी से भाग सकते थे, उतनी तेजी से खेतों में से भागे। नदी पार करके ही हमने दम लिया। गांव वाले नदी के पार पीछा करने नहीं आये। हम समझ गये कि शायद अब हम किसी और की जमीन पर खड़े हैं। गांव वाले खड़े लाठियां दिखा रहे थे। हमने मुक्के तान कर दिखाये। मगर कोई असर नहीं हुआ और हमारे वस्त्र हमें नहीं मिले। वहां से चलकर हमने आम के एक बगीचे में शरण ली। वहां किसी ने हमें परेशान नहीं किया।

"अब क्या करें ?" दलजीत ने जिज्ञासा प्रकट की।

"जामनगर तक पैदल चलते हैं," मैंने कहा, "ज्यादा दूर नहीं है।"

"तेरा मतलब है, बिना कपड़ों के, इस हालत में ?"

"क्या हुआ ? अंधेरा होने तक यहीं इंतजार करते हैं।"

"और जब सुबह होगी, तब क्या करेंगे ?"

"अरे, कोई न कोई जुगाड़ हो जायेगा। तेरी घड़ी बेच कर कुछ कपड़े खरीद लायेंगे।"

"न बाबा न, सिर्फ घड़ी पहने, नंगे बदन किसी दुकान में जायें और घड़ी बेचें—यह मुझसे नहीं होगा।"

"हम साधुओं का वेश धर कर जायेंगे," मैंने कहा, "या और कुछ नहीं, तो साधुओं के चेले ही बन जायेंगे। आजकल का यही फैशन है। पहुंचे हुए साधु-महात्मा नंगे ही घूमते हैं। तब हमें मुफ्त भोजन और रात का ठिकाना भी मिल सकता है।"

"और सुबह जाकर पता चलेगा कि जहाज तो हमारे पहुंचने से पहले कभी का जा चुका !"

"अरे हां, यह बात तो मैंने सोची ही नहीं...।"

मगर जब हम इस धर्मसंकट में थे, तभी क्या देखते हैं कि दो आदमी हमारी ही तरफ वाले किनारे पर चले आ रहे हैं, जो शायद रेलवे कर्मचारी थे। उन्होंने किसानों की तरह धोती नहीं, बल्कि पतलून और कमीज पहन रखी थीं। पहले मैंने सोचा कि वे नदी पर पानी पीने जा रहे हैं, मगर जब उन्हें कपड़े उतारते हुए देखा, तो एकाएक मेरे दिमाग में यह फितूर आया और मैं उठ कर बैठ गया।

"दलजीत !" मैंने जल्दी से कहा, "उन्हें देख रहा है ?"

"हां, देख तो रहा हूं।" दलजीत को मेरा आशय समझने में देर नहीं लगी, "हां, यही मौका है, रस्टी। याद रख, किसी प्रकार की दया-ममता दिखाने की आवश्यकता नहीं। यह दुनिया हम जैसे सीधे-सादे लोगों के लिए नहीं है। हमें अपने तौर-तरीके बदलने पड़ेंगे और वैसा ही व्यवहार करना होगा जैसा यहां के लोग करते हैं। ये लोग शायद गांव वालों को ही दोष देंगे। मगर हमें दबे पांव बढ़कर झाड़ियों की आड़ ले लेनी चाहिए। ऐसा न हो कि वे हमें देख लें।"

हाथों और पैरों के बल रेंगते हुए, नंगे बदन पर खरोंचें डालने वाले तीखे कांटों की चिंता किये बिना, हम फिर नदी के किनारे पहुंचे। कुछ ही दूरी पर वे दोनों नहा रहे थे। दोनों आदमी, ठीक बालकों की तरह, पानी में उछल-कूद मचाये हुए थे और खासा हो-हल्ला कर रहे थे। (मैंने गौर किया है कि वयस्क लोग जब खुले में नहाते हैं तो बहुत चंचल हो उठते हैं। इसका कारण संभवतः यह है कि वे उस अवस्था में जा पहुंचते हैं, जिसमें से प्रफुल्लित 'अमीबा' के

रूप में पहले-पहल मानव का उद्भव हुआ।) उन्होंने न तो हमें देखा था और न ही हमारी आहट उन्हें लग पायी थी। कुछ ही गज के फ़ासले पर उनके अस्त-व्यस्त कपड़ों का ढेर जमा था।

"मैं जाकर उठा लाता हूं।" दलजीत ने फुसफुसाते हुए कहा, "अगर मुझे देख भी लिया, तो समझेंगे कि गांव का कोई लड़का है। लेकिन उन्होंने अगर तुझे देख लिया, तो फिर खैर नहीं।"

दलजीत झाड़ियों में से निकलकर बड़ी फुर्ती से गया (यदि ऐसा ही जीवट उसने कभी स्कूल में दिखाया होता, तो वह अच्छा एथलीट बन सकता था), सारे कपड़े जल्दी-जल्दी बटोर कर बांहों में भरे और फिर उसी फुर्ती से भागते हुए मेरे पास लौट आया।

"शाबाश !" मैंने फुसफुसा कर कहा, "उन्हें भनक तक नहीं पड़ी।"

हम वहां रुके नहीं (यद्यपि हम देखना चाहते थे कि कपड़े गायब देखकर उनकी कैसी हालत होगी), बल्कि सिर पर पैर रखकर, आम के पेड़ों के बीच से होते हुए, भाग खड़े हुए।

रेल की पटरी पार करके, हम खुले मैदान में दौड़ते ही रहे और एक कुएं के निकट जाकर ही हमने सांस ली। वहां एक प्राचीन बरगद की घनी छाया में हमने नये कपड़े पहने, जो हमारे डीलडौल को देखते हुए खासे बड़े और बेडौल थे।

जामनगर

दो घंटे बाद हम जामनगर में थे।

हम एक छोटी-सी चाय की दुकान के निकट रुके और ललचाई नजरों से लोगों को लड्डू और भेलपुरी खाते हुए देखने लगे। हमारे पास तो नारियल खरीदने लायक पैसे भी नहीं थे।

"बंदरगाह किधर है ?" मैंने दुकानदार से पूछा।

"यहां से दो मील दूर।" उसने उत्तर दिया।

"क्या वहां कोई जहाज वगैरह खड़े हैं ?" तनिक आश्वस्त होकर मैंने पूछा।

"जहाज का क्या करोगे ?"

"कोई क्या करता है जहाज का ?"

"खैर, सिर्फ एक जहाज है, जो आज लंगर उठा रहा है। उस पर जाना चाहते हो तो फटाफट भागो !"

"चल !" दलजीत बोला।

"ठहरो !" दुकान के काउंटर के निकट खड़े एक युवक ने हमें टोका, "अगर पांव-पांव चल कर जाओगे, तो करीब एक घंटा लग जायेगा वहां पहुंचने में। तुम्हें अपनी गाड़ी में बैठा कर ले चलता हूं।" यह कहते हुए उसने निकट खड़ी एक जर्जर-सी टट्टूगाड़ी की तरफ इशारा किया। टट्टू को देख कर लगता नहीं था कि वह वहां से हिलने-डुलने को भी राजी हो सकता है।

"मेरा टट्टू खूब तेज भागता है।" हमें टट्टू की तरफ ताकते देख युवक बोला, "इसकी शक्ल-सूरत पर मत जाओ। थका-मांदा जरूर लगता है, मगर चैंपियन की तरह दौड़ता है। सिर्फ एक रुपया भाड़ा लूंगा !"

"हमारे पास एक दमड़ी भी नहीं है।" मैंने कहा, "हम पैदल जायेंगे।"

"ठीक है, अठन्नी ही दे देना।" वह बोला, "अठन्नी और चाय का एक

गिलास। आओ, बैठो।"

"ठीक है।" दलजीत बोला, "ज्यादा वक्त नहीं है। अठन्नी देंगे। चाय खुद खरीद कर पी लेना।"

हम टट्टूगाड़ी पर सवार हो गये। युवक भी उछल कर आगे बैठ गया और लगा चाबुक फटकारने। टट्टू झटके के साथ आगे बढ़ा, पहिये खड़खड़ाए-डगमगाए और बाजार की सड़क पर टट्टू सरपट दौड़ने लगा।

"मुझे नहीं मालूम था, तेरे पास अठन्नी बची है।" मैंने कहा।

दलजीत बोला, "मेरे पास है कहां ! लेकिन इसकी चिंता बाद में करेंगे। तुम्हारे अंकल तो भाड़ा चुका ही सकते हैं !"

ज्योंही हम टाउन से निकले और समुद्र की तरफ जाने वाली खुली सड़क पर आये कि टट्टू की चाल और तेज हो गयी। स्वाभाविक था, क्योंकि वहां उतराई थी। हवा के झोकों से उड़ते मेरे बाल आंखों पर आ रहे थे और हवा में समुद्र की खारी गंध घुली हुई थी।

दलजीत ने उत्साह में भर कर मुझे झकझोरा।

"बस, अब समझो कि हम बंदरगाह पर पहुंच गये," वह कह रहा था, "और फिर वहां से उड़नछू हो जायेंगे।"

कोचवान टट्टू को तरह-तरह से पुचकारते हुए भगा रहा था। फिर, कुछ तो समुद्री हवा और कुछ टट्टूगाड़ी की तेज रफ्तार से प्रफुल्लित होकर उसने एकाएक गाना शुरू कर दिया। ज्योंही हम सड़क के मोड़ से घूमे कि समुद्र-तट दिखाई पड़ने लगा। कई छोटे-छोटे 'ढो' तट के निकट खड़े थे और मछुआरों की डोंगियां रेत पर लगी थीं। मछुआरे अपने जाल सुखा रहे थे और उनके नंग-धड़ंग बच्चे समुद्री लहरों में हुड़दंग मचाते फिर रहे थे। कुछ ही फासले पर, समुद्र में एक स्टीमर खड़ा था। हालांकि इतनी दूरी से मैं उसका नाम नहीं पढ़ सका, फिर भी मुझे भरोसा था कि वह 'लूसी' ही था।

टट्टूगाड़ी घाट के शुरू में ही रुक गयी और हम एकदम कूदे और घाट के साथ-साथ दौड़ते चले गये। मगर दौड़ते-दौड़ते भी यह समझते मुझे देर नहीं लगी कि जहाज हमसे परे, समुद्र में आगे की ओर बढ़ता चला जा रहा है। उसके प्रोपेलर से उठने वाली छोटी-छोटी लहरें पीछे घाट की तरफ आ रही थीं।

"कैप्टन !" मैंने चिल्ला कर पुकारा, "अंकल जिम, रुक जाओ ! हम आ गये !"

जहाज के पिछले हिस्से में खड़े एक 'लास्कर' (नाविक) ने हाथ भर हिलाया। और बस। मैं घाट के सिरे पर खड़ा था और हाथ हिलाते हुए जोर-जोर से पुकारे

जा रहा था :

"कैप्टन, अंकल जिम ! रुक जाओ, मैं आ गया।"

लेकिन किसी ने कोई जवाब नहीं दिया। लगा, स्टीमर के पीछे-पीछे चक्कर लगाते समुद्री पक्षी भी मानो मेरी आवाज में आवाज मिला कर चिल्ला रहे हों, "कैप्टन ! कैप्टन...!"

जहाज और आगे निकल गया था। उसकी रफ्तार तेज होती जा रही थी। फिर भी मैं भर्राई आवाज में चिरौरी करते हुए पुकारे जा रहा था।

योकोहामा, सान डिएगो, वालपरायसो, लंदन—सब एक-एक करके सदा के लिए ओझल होते जा रहे थे...

उस ढलती सांझ की वेला में घाट पर हम अकेले खड़े थे। ऊपर मंडराते समुद्री पक्षी मानो अपने कलरव से हमें चिढ़ा रहे थे। बरबस अंकल जिम के पत्रों में से एक वाक्यांश मेरे मस्तिष्क में कौंध गया : "पहला पड़ाव एडन में, फिर स्वेज में, और फिर नहर के बाद..." मगर मेरे सामने वापसी का काफी लंबा सफर मुंह बाये खड़ा था। फिर अपने गार्जियन का कोप और फिर स्कूल की बोरियत !

दलजीत चुपचाप खड़ा था। आखिर जब मैंने उसकी तरफ देखने का साहस बटोरा, तो यह देखकर मैं चकित रह गया कि वह मुस्करा रहा था। वह हताश या उदास बिल्कुल नहीं था।

"हमने यहां पहुंचने में काफी देर कर दी," दलजीत कह रहा था, "सैंकड़ों मील चलकर यहां आये और, बस, पांच मिनट की देरी ने सब चौपट कर दिया।"

"कोई बात नहीं। हर चीज का अंत नहीं में हुआ है। हमारी सारी योजनाएं।..."

"हमारे सारे सपने !"

"सपने देखने में क्या बुराई है ?"

"कोई नहीं। जब तक वे सच नहीं होते, हम स्वप्नलोक में विचरते रह सकते हैं, ख्याली-पुलाव पका सकते हैं। हम स्कूल वापस लौटेंगे और एक बार फिर नये-नये सपनों के जाल बुनेंगे।"

"मुझे नहीं मालूम था, तू दार्शनिक भी है, दलजीत !...और तू क्या समझता है, हम वापस स्कूल लौट जायेंगे ? तू अगर अपनी घड़ी भी बेच डाले, तो भी इतने पैसे नहीं जुट पायेंगे। मैं तो हार गया हूं। मैं कहीं नहीं जाना चाहता। जब तक मेरे अंकल लौट नहीं आते, मैं इसी घाट पर बैठा रहूंगा, यहीं।"

"कब तक उनका इंतजार करेगा ?"

"एक साल, दो साल !" मैंने मुस्कराते हुए कहा।

"लौटने के बारे में तू चिंता मत कर।" दलजीत बोला, "जब हमने भागने की सोची थी, तो उस भेद को गुप्त रखना मजबूरी थी, पर अब यह रहस्य, रहस्य नहीं रहा। हम घड़ी बेचकर टट्टूगाड़ी का भाड़ा चुकायेंगे और तार देंगे।"

"हैडमास्टर को ?"

"नहीं, बंबई में मैं अपने एक अंकल को तार दूंगा। वह अपनी कार में आकर हमें यहां से ले जायेंगे। फिर कार से ही वह हमें वापस हमारे स्कूल पहुंचा देंगे। इस बार हम आराम से सफर करेंगे। रास्ते में चिकन खायेंगे, आइसक्रीम खायेंगे। कुछ दिन तो गुलछर्रे उड़ायेंगे ही।"

"हां," मैंने कहा, "लौटने के बाद हमें फिर कौन मौज-मस्ती करने देगा !"

टट्टूगाड़ी की तरफ चलते हुए मैंने ज्यादा बात नहीं की। उस समय मेरा मन कहीं दूर भटक रहा था। मैं अपने आपको यह कह कर दिलासा दे रहा था कि अगले साल किसी दिन अंकल जिम जब फिर 'लूसी' में लौटेंगे, तब मैं ऐसी गलती नहीं करूंगा। जहाज छूटने से काफी पहले ही मैं उस पर सवार रहूंगा।

और तनिक ठिठक कर मैंने अंतिम बार समुद्र की तरफ देखा। समुद्र की विशाल जलराशि में स्टीमर बहुत छोटा लगने लगा था।

इस साल, अगले साल, कभी...योकोहामा, वालपरायसो, सान डिएगो, लंदन...

तरंग प्रिंटर्स, लक्ष्मी नगर, दिल्ली द्वारा मुद्रित